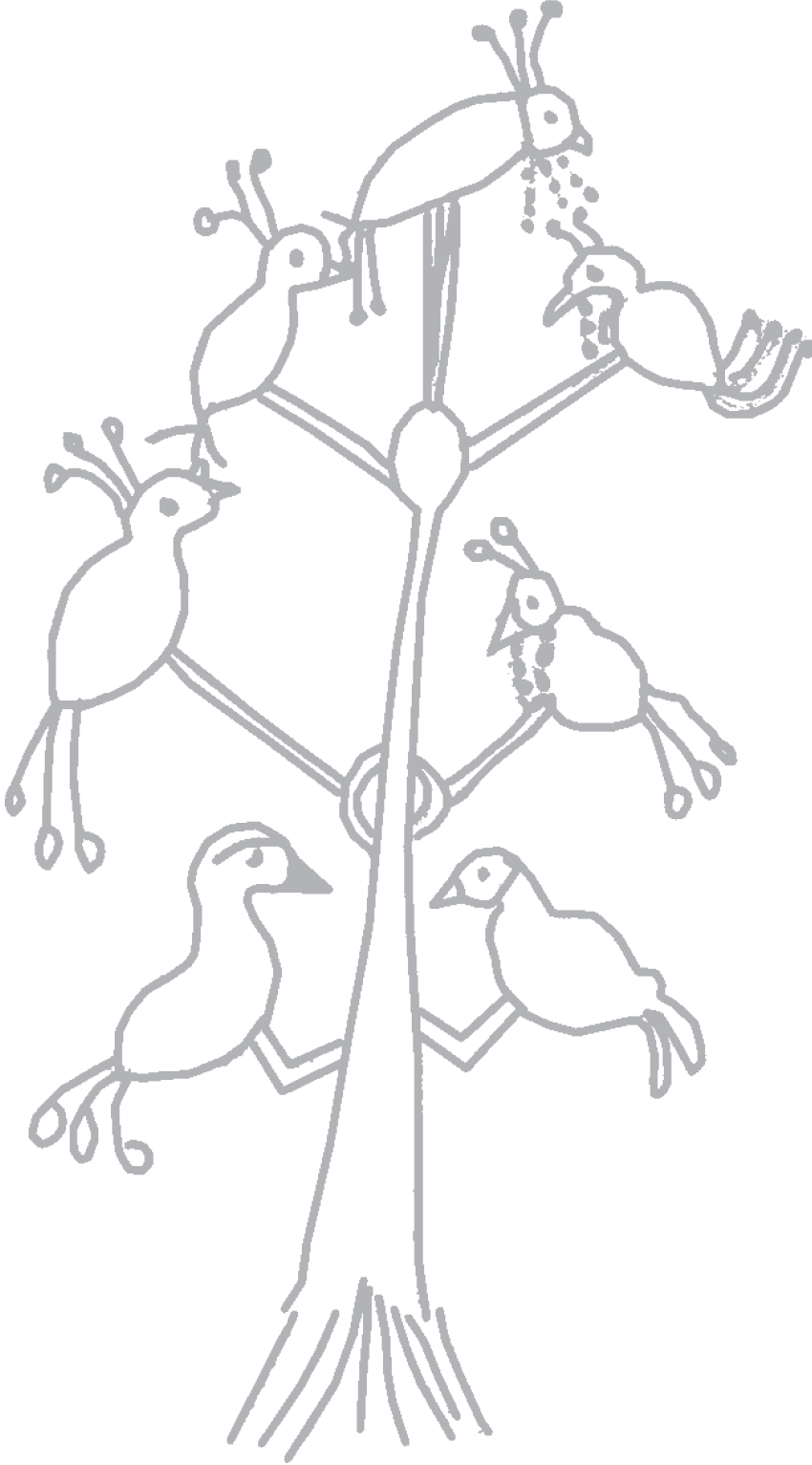


चौमासा

वर्ष-29 अंक-88
मार्च-जून, 2012

प्रधान सम्पादक
श्रीराम तिवारी

सम्पादक
अशोक मिश्र



आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

ISSN 2249-5479

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

सम्पर्क

आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स

भोपाल-462002

फोन/ फ़ैक्स : 0755-2661948, 2661640

E-mail : mplokkala@rediffmail.com

मूल्य

एक प्रति बीस रुपये

वार्षिक - पचास रुपये

आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रुपये

चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रुपये

प्रचार/प्रसार

प्रवीण गावण्डे - (मो. 9827351093)

शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

मुद्रण

शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

● चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।

● पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

निदेशक, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्- भोपाल मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल- भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोककला एवं बोली विकास साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स- भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-अशोक मिश्र

इस अंक में

- संत रविदास और सामाजिक समरसता / आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी / 5
- लोक और शास्त्र संगत आचरण / वसन्त निरगुणे / 9
- व्रत, त्योहार और आहार- व्यवहार / डॉ. भानुशंकर मेहता / 20
- बघेली का लोक सौन्दर्य / प्रो. सेवाराम त्रिपाठी / 23
- बघेली एवं अवधी के संस्कार गीत / डॉ. अमित शुक्ल / 32
- लोकसाहित्य : परम्परा और प्रयोग / डॉ. विनय कुमार पाठक / 36
- अवधी के ऋतु गीत / डॉ. विद्या विन्दु सिंह / 41
- मंगल थापांकन / डॉ. महेन्द्र भानावत / 54
- राजस्थान में सांझी कला / डॉ. कहानी भानावत / 66
- लोक गीतों में विवाह / श्रीमती हेमलता उपाध्याय / 72
- छत्तीसगढ़ी विवाह गीत / लिकेश्वर वर्मा / 79
- कनपुरिया संस्कार गीत / मनीष कुमार पाण्डेय / 85
- उत्तर-पूर्व की बुनाई परम्परा / नेहा तिवारी / 90
- लोक वाद्य / ललितनारायण उपाध्याय / 105
- लोक विधा / पराक्रम सिंह / 107
- सरगुजा के गोदने / राम कुमार शर्मा / 110
- जनजातीय आभूषण / निरंजन महावर / 112
- निमाड़ का लोक संगीत / अरुण सातले / 121



संत रविदास और सामाजिक समरसता

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

हिन्दी आलोचना में विवेचकों ने सुविधा के लिए मध्यकालीन पहुँचे हुए आध्यात्मिक विभूतियों को दो कोटियों या वर्गों में विभक्त कर रखा है- संत और भक्त। संतों को निर्गुण धारा में और भक्तों को सगुण धारा में बाँट रखा है। इन आध्यात्मिक विभूतियों की रचनाओं या बानियों के साक्ष्य पर निर्विवाद रूप में दो भिन्न प्रवाह लक्षित होते हैं- एक प्रवाह में न तो सूर आदि की तरह कृष्ण लीला रस का आद्यन्त गान है और न ही तुलसी की तरह आद्यन्त राम का चरित गान है- नाम साधना उभयत्र समान है- पर संतों के राम और कृष्ण वे ही नहीं हैं, जो भक्तों के यहाँ अवतार रूप में गृहीत हैं। 'कबीर की तरह रविदास भी कहते हैं-

राम कहत सब जग भुलानो, सो यह राम न होई।

× × × ×

जा रामहीं सब जग जानै, भूमि भूलै रे भाई।

इन पंक्तियों से रविदास रामाश्रयी तुलसी की धारा से स्पष्ट रूप से अपना प्रस्थान पार्थक्य निरूपित करते हैं। उनकी रचनाओं में अवतारों के नामों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है- राम, कृष्ण, मुकुंद, वीठल आदि- पर अर्थ भेद स्पष्ट है। वे अपने उपासक के लिए इन समादृत संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं, पर आशय भिन्न कर लेते हैं। यह उपास्य साधन बेला में सगुण ही है। कारण, साधन के रूप में हमें उपकरण प्राप्त हैं- बाह्य करण और अन्तः करण। अन्तः करण की दो वृत्तियाँ- बोधात्मा और भावात्मा। बाह्य करण साध्य उपासना के प्रति अरुचि इन पंक्तियों से स्पष्ट है-

कह रैदास प्रकाश परमपद, का जपतप विधि पूजा?

× × × ×

तिलक दियौ पै तपति न जाई, माला पहरि घणैरी लाई ।
बाहरि उदिकि पषलाए घट भीतरि विविध विकार ।
सुचि कौन विधि हौंहुगे, जैसे कुंजर विधि त्यौहार ॥

रहीं आंतरिक वृत्तियाँ, उनमें भी जहाँ तक बोध या चिन्तन का पक्ष है- वह ज्ञान मार्गी रूक्ष प्रकृति वाले साधकों का है- भक्तिमार्गी संतों, जो द्रवशील प्रकृति के हैं- का नहीं। वे तो एक मात्र भाव मार्गी हैं-

अनेक जतन करि टारियै, टारे न टरै जमपास ।

प्रेम भक्ति नहिं अपने, ताने जन रैदास ।

× × × ×

प्रेम परी सुरति लेष करि

अंतर रौम मौं लिख आँक दिखाऊँ

यद्यपि जहाँ-तहाँ हठयोग की पदावली मिलती है, पर ये राग मार्गी सहज मार्गी हैं। सहज के उपासकों का सहज मार्ग ही होता है- कृच्छ मार्ग नहीं। रैदास स्वयम् कहते हैं -

भाई रे सहजि वंदि लोई, विन सहज सिध न होई ।

त्यौ लीन मन तव जानिए, तव कीट भृंगी होई ॥

साधन बेला में राग अन्तःकरण की वृत्ति विशेष है- जो विषयातीत गुणातीत को विषय बना नहीं सकती है। कारण वह वृत्ति वेद्य नहीं, स्वसंवेद्य है। गुणातीत का उल्लेख रैदास करते हैं- पर वृत्तिवेद्य रूप में नहीं।

‘पूरन ब्रह्म वसै सब ठाई- कहै रैदास मिलै सुख सोई’

अथवा

निहचल निराकार अति अनुपम नमै गति गोव्वंदा ।

अगम, अगोचर, अधिर, अंतरिक त्रिगुण नित आनंदा ।

गुणातीत वृत्ति का विषय नहीं, अवतार रामादि नहीं, तो फिर है कौन जो उपासक सुरति को भृङ्गी-कीट की तरह राग की सहज पद्धति से आत्मरूप बना लेता है?

गुणातीत परात्पर सत्ता है- पर उस तक पहुँचा कैसे जाय ।

अव्यक्त तक व्यक्त के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है- अव्यक्त आग व्यक्त आग से ही व्यक्त होती है- पाई जाती है- ऐसा ही कुछ यहाँ भी संभव है। संत रैदास कहते हैं-

रैदास दास संत चरन, मोहि अवलंबन दीजै ।

रैदास आलम्बन या अवलंब के लिए संतचरन की माँग करता है- कारण उसी को अन्तःकरण की रागात्मिका वृत्ति का आलंबन के नाता है उसका अनुभाव है- ‘गुरु परसादि भई अनभै मति’- उसी की भक्ति से उपजी उसकी प्रसन्नता से मति में भयहीनता का भाव उपजा - ‘तरति शोक्यात्मचित्’- तत्त्वज्ञ ही शोक सागर का संतरण करता है और ऐसी स्थिति उसकी कृपा से संभव है। एतदर्थ रैदास जप और ध्यान की बात बराबर करते हैं- पातंजल दर्शन भी कहता है- तज्जपस्तदर्भभाम् वानम्। जिस नाम का जप करो, उसी के अर्थ का भावन करो। अवतार की अनपेक्षाएँ और गुणातीत बोध से परे है- तब एक ही माध्यम शेष रह जाता- शरीरी सबद-सदुगुरु। रैदास कहते हैं- और उनके हृदय की एक ही माँग है।

संतनी संगति, संत कथा रसु, संत प्रेम माझा दीजै देवादेव ।

संत आचरण संत वो मारगु संत संत ओल्हग ओलगणी ।

अउर इक मागउ भगति चिन्तामणि जणी लरनावहु असंत पचीसणी ।

रविदास भणै जो जाणै सो जाणु, संत अतुंतहि अंतरू नाहिं ।

रविदास के हृदय की देवाधिदेव से एक ही माँग है- याचना है कि वह अपने और उपासक के बीच मध्यस्थ या भेदिया का भार सँभालने वाला प्रदान करें, संत की संगति प्रदान करें, संतकथा में रस लेने की रूचि प्रदान करें, हृदय में संत के प्रति प्रेम को स्थिर कर दें।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि रविदास परात्पर सत्ता से एकात्म्य की प्राप्ति के लिए आगम रूप संत की अपेक्षा करते हैं- उनकी पंक्ति है-

संत अनुंतहि अंतरू नाहीं ।

संत और अनन्त में अंतर नहीं है और है तो मात्र इतना ही। भक्त तुलसीदास भी कहते हैं-

अब जनि करेहु संत अपमाना।

जानहु संत अनन्त समाना।।

गीता प्रवक्ता श्रीकृष्ण भी तत्त्वबोध के लिए तत्त्वदर्शी ज्ञानी को पाने का संदेश देते हैं। मंत्रयानी बौद्ध सिद्ध सरहपाद क्रमापात त्रिशरण में 'गुरुं शरणं गच्छामि' कहकर चतुर्थ शरण की घोषणा करते हैं। नाथ पंथी भी मानते हैं।

'दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरुः करुणां बिना' सारी परम्परा सद्गुरु को दाता गोविन्द को दान में प्राप्त मानती है। फलतः निष्कर्ष यह निकलता है कि साधन बेला में सुरत (अन्तःकरण की रागात्मिका वृत्ति) इसी सगुण शरीरी सबद सद्गुरु की कृपा से ही तत्त्वबोध का होना मानती है- भृंगी सद्गुरु है और कीट जीवात्मा। भृंगी कीट को भृंगी ही बना लेता है- आत्मरूप बना लेता है। रविदास भृंगी कीट की बात बार-बार करते हैं।

इस संदर्भ में संत परम्परा की एक रेखांकनीय बात और यह कि दोनों संत और भक्त का भेदक तत्त्व आराध्य का निर्गुण और सगुण होना तो नहीं है- क्योंकि दोनों धाराएँ साधन बेला में सगुण (सद्गुरु) को ही पकड़ती हैं- तुलसी भी कहते हैं-

बिन गुरु भवनिधि तरै न कोई।

जो विरंचि शंकर सम होई।

स्वयं श्री राम कहते हैं-

तात भक्ति अनुपम सुख मूला।

मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला।।

इस प्रकार निर्विवाद है कि दोनों धाराओं में साधन बेला में सद्गुरु आराध्य हैं- वही साधक की सहज माँग को पूरा करता है। सूर को लीला रस का पान महाप्रभु ने और अगस्त्य ने सुतीक्ष्ण को द्विभुज राम का स्वरूप रस पान कराया है। पर संत धारा में सद्गुरु का करता है- वहाँ न लीला रस है और न रूपरस पान है- तो है क्या?

महा- महोपाध्याय कविराज गोपीनाथ ने दोनों धाराओं के साहित्य के साक्ष्य पर कहा है कि नाम साधना से फलश्रुति दो प्रकार की है- नादपर्यवसायी और लीला रस पर्यवसायी। संत धारा नाम साधना 'सबद' (नाद) का साक्षात्कार कराती है और

भक्त धारा लीलारस का। संतधारा परात्पर सत्ता को 'सबद' या बोधात्मा परावाक् मानती है और उसे ही सृष्टि का मूल कहती है। रविदास इस दर्शन की चर्चा प्रायः नहीं करते- पर जिस कबीर का भी श्रद्धापूर्वक बार-बार स्मरण करते हैं- वे तो यही कहते हैं-

साधो सबद साधना कीजै

जेही सबद तें सब उपजे हैं ताहि गाहि लीजै।

कबीर से लेकर राधास्वामी तक सारी संत परम्परा इसी दर्शन से परिचालित है। रविदास भी इसी परम्परा से हैं। अतः उनका भी यही पक्ष है। साध्य है सबद स्वरूपी सद्गुरु से जीव का एकात्म्य। देहप्राप्त होने पर गुणातीत ज्योति से ज्योति मिल जाती है। वह निः अच्छर या निश्शब्द दशा है- स्पन्दातीत स्थिति है।

गुरु और शिष्य का भृंगी कीट की तरह एकात्म हो जाना यदि साध्य है तो साधना सुरत शब्द योग है। जीव अपनी सुरत (चेतना) को सबद में लगाकर तद्रूप हो जाता है। रविदास ने कहा है-

प्रेम परी सुरति लेष करि अंतर रौंम मौं लिख आँक दिखाऊँ।

सुरत 'शरीरी सबद' सद्गुरु से राग द्वारा भृंगीकीट की तरह एकात्म होकर अशरीरी सबद में लीन हो जाती है।

रविदास कबीर की तरह बहुत ज्ञान की बातें नहीं करते। वे भक्ति के भ्रमर हैं और तदर्थ आपा खोने की शर्त करते हैं।

कहे रैदास मोटि आपा पर, तव वा ठौरहि पावेगा।

अहंकार तादात्म्य में सबसे बड़ा बाधक है- अतः आराध्य में अपनी व्यक्तिगत सत्ता का विसर्जन एक मात्र तादात्म्य का साधन है। अपनी हस्ती को 'फना' किए बिना 'वका' की स्थिति नहीं आती।

कहीं क्वचित् दार्शनिक स्वर उभर आता हो- बात इसकी है- जैसे-

एकही एक अनेक होइ विसभरियो

आन रे आन भरपूर सोऊ।

रविदास अंतः शुद्धि और एकनिष्ठ राग-गर्भ समर्पण पर ज्यादा बोलते हैं- उपास्य का स्मरण करते हैं और केवल वाह्याचार पर जगह-जगह बरसते रहते हैं।

जो ओहु अठिसठि तीरथि न्हावै,
जे ओहु दुवादस सिला पुजाववै

जे ओहु कूप तटा देवावै, करै निंद सबविरथा जावै।

यदि आन्तरिक शुद्धि नहीं है, चेतना स्वच्छ नहीं है। अपने पराये की निंदा से दूर नहीं, तो बाह्य विधि-विधान निरर्थक है।

इस प्रकार जो साधक विषयों से विरक्त होकर मालिक में अनुरक्त होकर सबका भला चाहता हो। इंसान-इंसान के बीच में भेदक दीवारों से निरपेक्ष होकर जीवन यात्रा सम्पन्न करेगा, उसके आदर्श का अनुकरण सामाजिक तमाम विसंगतियाँ स्वतः दूर हो जायेंगी। संतजन किसी समाज की बाह्य व्यवस्था या रूढ़ व्यवस्था

से निरपेक्ष रहकर इंसानियत की भूमि पर स्वयम् जीते हैं और चाहते हैं कि वैसे ही दूसरे भी जिए- तो विरसता का सवाल ही नहीं उठता। मानव का धर्म मानवता है- जो सामान्यतः परार्थ पर्यवसायी रागसमादृत परदुःख कातरता कही जाती है- में प्रतिष्ठित संतजन उन सभी चेतनागत विकारों से शून्य होते हैं, जो सामाजिक विरसता या विसंगतियाँ पैदा करते हैं? संतजन कहते हैं कि चेतना की जो चादर प्रकृति ने उन्हें दी है- उसने उसे ज्यों की त्यों रख दी- उस पर कोई दाग नहीं आने दिया। जो जानता है कि एक ही से अनेक हुए हैं- वह बैर भावना विश्व के प्रति कैसे और क्यों उठावेगा? वैसा समाज व्यक्तिगत विकारों के तिरोधान और सर्वमंगल सम्पादन की भावना से ही अन्वर्थता प्राप्त करता है। 'समाना अजन्ति यत्रस समाजः'- विषमता की दीवाल तोड़कर जब सामरस्य वाही भावना काम करेगी- वही समाज-समाज कहा जायेगा। रविदास की आन्तरिक स्वच्छता का संदेश सामाजिक समरसता का आधापन ही होगा।

लोक और शास्त्र संगत आचरण

वसन्त निरगुणे

भारतीय संस्कृति में व्रत-उपवास, आस्था-अनुष्ठान, जप-तप, पाठ-पूजा, यज्ञ-याज्ञ, कथा-वार्ता, पर्व-उत्सव, तीज-त्योहार आदि की एक सुदीर्घ और समृद्ध-लोक और शास्त्रीय परम्परा दिखायी देती है, जिसमें मुख्य रूप से आनन्द एवं उल्लास का संचार होता है। इन प्रविधियों से अज्ञान, दुःख, शोक और मोह की निवृत्ति होती है तथा अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होती है। इसीलिये भारतीय जनजीवन में इन प्रविधियों की विशेष जगह और प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि यहाँ जीवन का प्रत्येक क्षण व्रत-उपवास, पर्व-त्योहारों से परिपूर्ण है, जो हमारी संस्कृति के मूलाधार हैं। इन प्रविधियों में ज्ञान की अनेक पारम्परिक सरणियाँ प्रवहमान होती हैं, जिसमें हमारा समूचा लोक अनंत वर्षों से अवगाहन करता आया है और न जाने कब तक इन प्रविधियों के द्वारा उपकृत होता रहेगा। संभवतः जब तक पृथ्वी पर जीवन है, तब तक।

‘व्रतानां सत्यमुत्तमम्’ - सब व्रतों में सत्य व्रत सबसे उत्तम है। सत्कर्म व्रत है। अभीष्ट कर्म करने का संकल्प व्रत है। धर्माचरण व्रत है। पुण्य प्राप्ति के लिये विहित तिथि में उपवास करना व्रत है। शास्त्रविहित नियमों का पालन करना व्रत है। सामान्यतः मुख्य व्रत तीन तरह के होते हैं- नित्य व्रत, नैमित्तिक व्रत और काम्य व्रत। एकादशी आदि व्रत जिसके न करने से प्रत्यवाय यानी दोष होता है, ऐसे व्रत ‘नित्य व्रत’ होते हैं। पापक्षय आदि को निमित्त लेकर अनुष्ठित चन्द्रायण आदि व्रत ‘नैमित्तिक व्रत’ कहलाते हैं। किसी विशेष तिथि से विशेष कामना के साथ जो अनुष्ठित व्रत किया जाता है, उसे ‘काम्य व्रत’ कहा जाता है। जैसे ज्येष्ठ माह के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि को किया जाने वाला- वट सावित्री व्रत ‘काम्य व्रत’ की श्रेणी में आता है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ कुछ मानसिक व्रतों की भी चर्चा की गयी है- जैसे इस श्लोक में कहा गया है-

अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यसकल्मषम् ।

एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि व्रतधारिणि ॥ बराहपुराण ॥

सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि से मन की प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर अन्तःकरण की शुद्धि करने का संकल्प होता है। इन व्रतों को हमारे समय के महानायक महात्मा गांधी ने बखूबी अपनाया और आजमाया था। मानसिक व्रतों में अपार लोक शक्ति का संचार होता है। स्वतंत्रता प्राप्ति में गांधी ने इसे अच्छी तरह से सिद्ध किया है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व्रत आदि तो गांधीजी की आजादी की लड़ाई के अहिंसक हथियार बन गये थे, जो आत्मबल की संवृद्धि के कारक बने।

‘त्रियते इति व्रतम्’ – जिसका वरण, ग्रहण, अनुपालन, आचरण, अनुष्ठान किया जाय, उसे ‘व्रत’ कहते हैं। व्रत शब्द के पुण्य-दायक, उपवास, नियम-निष्ठा, अनुष्ठान, नियमन, निषिद्ध-वस्तु वर्जन, संकल्प, संयम, नियामक, नियम-विधि, कर्तव्य-कर्म आदि अनेक अर्थ होते हैं। अमरकोश में व्रत और नियम को पर्यायवाचक माना गया है। उपवास व्रत का एक प्रकार और अनुचर माना गया है।

वेद-पुराण, ब्राह्मण ग्रन्थों, मनुस्मृति एवं संस्कृत वाङ्मय में ‘व्रत’ शब्द का प्रयोग अनेक बार आया है। ‘व्रत’ भारतीय जीवन, धर्म, दर्शन, वैदिकी और संस्कृति की एक अनुपम देन है। इस शब्द का संज्ञान केवल भारत की भूमि पर ही समझा जा सकता है। इसका अनुवाद दुनिया की किसी भी भाषा में नहीं किया जा सकता है। अन्य भाषाओं में इसके गंभीर भावार्थों को व्यक्त तो किया जा सकता है, परन्तु इसका ठीक-ठीक पर्याय किसी भाषा में नहीं मिलेगा।

विश्व के सबसे पुराने ग्रन्थ ऋग्वेद के दसवें मंडल के 65 वें सूक्त के ग्यारहवें मंत्र में व्रत और व्रती शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें कहा गया है- व्रत करने वाले व्रती लोग, श्रेष्ठजन संसार में सदाचार को फैलाते हैं। यजुर्वेद के उन्नीसवें अध्याय के तीसवें मंत्र में कहा गया है- ‘व्रतेन दीक्षामाप्नोति’ अर्थात् व्रत से दीक्षा प्राप्त होती है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में व्रत और आचरण के सनातन उपदेश मनुष्य के लिए कड़े सूत्र रूप में कहा गया है- ‘सत्यं वद धर्मं

चर’ – सत्य बोलना और धर्म का आचरण, यही हमारे आदर्श व्रत थे। वेद में गृहस्थों के लिए एक बहुत ही सच्चा और सुन्दर उपदेश दिया गया है- ‘अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः’ (अथर्ववेद 3/30/2)। इसका अर्थ पुत्र पिता के व्रतों को पूर्ण करने वाला हो। इसे आचरण संहिता के उपदेश की अनुदेशना में ‘आदेश’ माना गया है। यहाँ यह एक तरह का अनिवार्य आचरण बन जाता है। ऐसी वैदिकों की मंशा रही है तभी यजुर्वेद में कहा गया है- ‘व्रतं कृणुत’ (4/11) हे मनुष्यों! व्रत धारण करो। यजुर्वेद में एक जगह एक मंत्र में व्रतों के पालनार्थ एक प्रार्थना की गयी है- ‘अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छक्रेयं तन्मे राध्यताम् इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥1/5।’

ऊपर के मंत्र में अनृत यानी झूठ के परित्याग और सत्य के ग्रहण की बात कही गयी है, जो हमारे आचारशास्त्र का वैदिक मूल है। इसलिये सामवेद के मंत्र में व्रत की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है- ‘अभिव्रतानि पवते पुनानो देवो देवान्स्वेन रसेन पृञ्चन्।’ अर्थात् मनुष्य जब एक बार व्रतों के पालन करने के लिए पग उठा लेता है तो उसके पालन करने से वह जीवन को पवित्र करने के स्वभाव वाला बन जाता है। मानव दिव्य गुणयुक्त होकर जीवन को सरस बना लेता है। उसके जीवन से रस, माधुर्य टपकने लगता है। हमारी आर्य परम्परा ने जो व्रत-उपवास आदि निर्धारित किये हैं, जरा उनको गौर से देखें तो पता लगता है कि वे सार्वभौमिक मानव कल्याण के लिये सनातन हैं। इनको किसी देश, काल की सीमा में भी नहीं बाँध सकते हैं और न इन्हें साम्प्रदायिकता में बाँध सकते हैं। ये तो हर समय में मनुष्य हित के पक्ष में खड़े रहने वाले हैं। जैसे सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच यम-नियम धारण करने वाले व्रती की कभी भी किसी भी समय में हार नहीं हुई है। गांधीजी इसका हमारे सामने बहुत बड़ा उदाहरण है। पुराण समय में जाएँ तो हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रहलाद, सावित्री आदि इसके जीवन्त उदाहरण हैं। व्रत रखने वाले व्यक्ति के लिये ऋग्वेद में कहा गया है- ‘राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि’ यानी जैसे प्रभु के सब कार्य लोकहितकारी एवं कल्याणकारी हैं, हे मनुष्य! तेरे व्रत, तेरे सत्कर्म भी सर्वहितकारी हों।

व्रतों का प्रयोजन दुर्गुणों, कषाय-कल्मषों का निष्कासन एवं संस्कारों का उदात्तीकरण है। व्रत संकल्पशक्ति की वृद्धि

करता है। शास्त्र में व्रत को तप कहा है और सहनशीलता को एक महत्त्वपूर्ण अंग निरूपित किया है। लोक में व्रत को धर्म कहा है और उसे सत्कर्म का एक अनिवार्य अंग माना है। इसमें आचार-व्यवहार, श्रद्धा, उपवास और प्रार्थना का विशेष महत्त्व है। इसे मनुस्मृति में इस प्रकार कहा गया है- आचारः प्रथमो धर्मो नृणां श्रेयस्करी महान्। अर्थात् मनुष्य का प्रथम श्रेयस्कर धर्म आचार है। यह मनुष्य के लिये कल्याणकारी है। स्नान, ध्यान, पूजन, जप-तप, हवन आदि व्रत के परिपूरक हैं, मनुष्य की बाह्य प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाते हैं। आत्मा की तरफ मोड़ते हैं और सात्विक भाव की प्रतिष्ठा कर त्याग और अनासक्ति की ओर ले जाते हैं। यही कारण है कि हमारे देश में कोई भी दिन ऐसा नहीं होता, जिस दिन स्नान, ध्यान, व्रत-उपवास, भजन-पूजन, हवन अथवा पर्व न हो। हमारी संस्कृति के मूलाधार भी ये ही हैं। इसके कारण हमारी संस्कृति आदिकाल से आज तक जीवित और जीवन्त धारा के रूप में प्रवहमान रही है, आगे भी अनन्तकाल तक प्रवाहित रहेगी। इसमें कोई संदेह नहीं है, क्योंकि भारतीय अभी भी 'व्रती' हैं।

अनुव्रत के एक जैन, विचारक सन्त श्री राजेन्द्र जिज्ञासु जी ने एक बहुत अच्छे उदाहरण से व्रत और उसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है- 'मधुमक्खी को छत्ता बनाने या बया को घोंसला बनाने के लिये कहीं भी, कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती।' परन्तु मनुष्य का बालक मुँह धोना भी सीखता है। अतः स्पष्ट है कि मानव जाति के लिये आचार शास्त्र चाहिये, जो परम्परा से चालू रहे। इसी का नाम 'व्रत' है।

व्रती कौन हो सकता है? इसका उत्तर हमें स्कन्दपुराण में स्वयं वेदव्यास ने दिया है-

*निजवर्णाश्रमाचारनिरतः शुद्धमानसः।
अलुब्धः सत्यवादी च सर्वभूतहिते रतः॥
व्रतेष्वधिकृतो राजन्नन्यथा विफलः श्रमः।
श्रद्धावान्यापभीरुश्च मददम्भविवर्जितः॥
पूर्व निश्चयमाश्रित्य यथावत्कर्मकारकः।
अवेदनिन्दको धीमानधिकारी व्रतादिषु॥ स्कन्दपुराण॥*

जो वर्णाश्रम धर्म का पालन करता हो, जिसका मन शुद्ध हो, लोभी न हो, सत्यवादी हो, सब प्राणियों के कल्याण में संलग्न

रहता हो, जिस व्रत का पालन करना चाहता है उसके लिये श्रद्धावान हो, पाप से डरता हो, घमण्ड एवं दम्भ से रहित हो और जिस व्रत को करने का उसने पूर्व में निश्चय किया है, उस व्रत के नियमादि का यथावत् पालन करने वाला हो, वेदों की निन्दा करने वाला न हो, ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति व्रत करने का अधिकारी है।

व्रत और उपवास एक संयुक्त युति है। व्रत के साथ उपवास जुड़ा है, इसलिये लोक और शास्त्र दोनों में जब भी प्रसंग चलता है, तब व्रत-उपवास ही कहा और समझा जाता है। व्रत से उपवास अलग नहीं है। कूर्मपुराण में कहा गया है-

*व्रतोपवासनियमैर्होमस्वाध्यायतर्पणः।
तेषां वै रुद्रसायुज्यं सामीप्यं चातिदुर्लभम्।
सालोक्यता च सारूष्य जायते तत्प्रसादतः।*

अर्थात् व्रत-उपवास नियमादि के पालन से होम, स्वाध्याय से एवं देव-ऋषि तथा पितरों को तृप्त करने से रुद्र देवता के प्रसाद से दुर्लभ सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य एवं सारूष्य मुक्ति की प्राप्ति होती है। व्रत के सामान्यतः दस धर्म माने गये हैं-

*क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाऽग्निहवनं संतोषोऽस्तेयमेव च॥
सर्वव्रतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्थितः।*

समस्त व्रतों में सामान्यतः क्षमा करना, सत्य बोलना, दया करना, दान करना, पाखण्डियों आदि के संसर्ग से दूर रहकर स्नान-आचमन आदि करके शौचाचार का पालन करना, मन में विकारों की उत्पत्ति ही न हो, एतदर्थ इन्द्रियों का निग्रह करना, देवताओं की पूजा करना, अग्नि में हवन करना, संतोष रखना तथा चोरी न करना- ये दस धर्म मनुष्य के पालनार्थ आवश्यक माने गए हैं। व्रत-उपवास में स्नान, देवदर्शन, पूजन-हवन, भजन-कीर्तन और सत्संग के साथ धर्म ग्रन्थों के अध्ययन-मनन का बहुत महत्त्व है।

व्रत और उपवास का महत्त्व लोक और शास्त्र दोनों में बखाना गया है। हमारे पूर्वज मनीषियों ने आयुर्वेद के आधार पर धार्मिक व्रत-अनुष्ठानों का अनुपालन करने का उपाय प्रस्तुत किया है। इन व्रत-उपवासों के पालन करने से सामान्य रोगों से मानव

मुक्ति प्राप्त कर स्वस्थ जीवन का अनुभव कर मानसिक तनावों से भी छुटकारा पाकर ईश-प्राप्ति का सहज सुलभ साधन भी पा लेता है।

उपवास, अस्वाद, मौन आदि व्रत भी अनेक दिशाओं में बिखरी हुई शक्ति को एकत्र करके अभीष्ट दिशा में लगाने के लिये किये जाते हैं। उपवास विषय विकारों से निवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। उपवासों से विकारों और वृत्तियों का नाश होता है। अपनी संस्कृति और धर्म में इसका विशिष्ट महत्त्व है। व्रत, अनुष्ठान, साधना, तपश्चर्या आदि धार्मिक कृत्य इसके बिना अधूरे माने जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - ये 'महाव्रत' कहलाते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्राणिधान इन पाँचों को नियम रूपी व्रत की संज्ञा दी गई है।

पर्व शब्द का सामान्य अर्थ उत्सव से लिया जाता है, लेकिन दोनों में भेद भी है। ये दोनों एक-दूसरे के पर्यायवाची शब्द नहीं माने जा सकते हैं। केवल कुछ फर्क के साथ केवल अर्थ साम्य ही है। इसी प्रकार व्रत और पर्व में भेद यह है कि व्रत अकेले या कुछ व्यक्तियों के साथ सम्पन्न किया जाता है, परन्तु पर्व के अवसर पर सैकड़ों, हजारों या लाखों की संख्या में जन संकुल होता है। व्रत एवं पर्व दोनों में शारीरिक शुद्धि के साथ इहलोक और परलोक की सिद्धि अपेक्षित होती है। व्रत की अपेक्षा पर्व का स्वरूप भव्य और व्यापक होता है। कुंभ, संक्रांति, सोमवती अमावस्या, ग्रहण, सूर्यषष्ठी आदि पर्व इसके उदाहरण हैं। व्रत और उपवास में आत्मसंयम की प्रधानता होती है। पर्व में तीर्थ स्नान, मठ मंदिर में दर्शन के अतिरिक्त दान-पुण्य, पूजा-पाठ, हवन-पूजन, भजन आदि क्रियाकलाप किये जाते हैं।

उपवास का मतलब अपने पास बैठना है। उप यानी निकट और वास का मतलब बैठने से है। इसका एक आध्यात्मिक अर्थ भी है। उपवास यानी अपनी आत्मा के समीप होना है, वह भी शान्त चित्त से। व्रत, पर्व और उत्सव में प्राकृतिक नियम के अनुसार सत्व, रज और तम कमोवेश तीनों गुण मौजूद होते हैं। व्रत 'सत्वप्रधान' होता है, जिसमें रजस और तमस गुण कम मात्रा में उपस्थित होते हैं। पर्व रजोगुण प्रधान होता है, जिसमें सत्व और तमगुण कम होते हैं। उत्सव में तमोगुण की प्रधानता होती है, लेकिन सत्व और रज की मात्रा न्यून होती है। इनमें अपने-अपने

प्रधान गुण का प्रभाव व्रत, पर्व और उत्सव में स्पष्ट देखा जाता है। सत्वगुण प्रधान होने से सात्विक व्रत में व्रती उपवासानुकूल सात्विक आहार, सात्विक व्यवहार और तदनुकूल नियमों के अनुपालन में संलग्न रहता है। रजोगुण प्रधान 'राजस पर्व' में गीत, वाद्य, शोभा-सजावट, भोग, राग, प्रसाद आदि में राजस भाव प्रकट रहता है। तमोगुण प्रधान 'तामस' उत्सव में नृत्य, वाद्य, हास-परिहास आदि का प्राधान्य रहता है। इस तरह व्रत, पर्व और उत्सव में अपना-अपना गुणात्मक परिमाण स्पष्ट मौजूद होता है।

पर्व शब्द की निष्पत्ति 'पर्व धातु' (क्रिया) से सम्पन्न होती है, जिसका क्रियार्थ- 'पूरा करना' या जोड़ना है। पर्व में 'अच्' प्रत्यय के लगने से 'पर्व' शब्द बनता है, जिसका अर्थ पूर्ण, भरा हुआ, जुड़ा हुआ तथा गाँठ युक्त होता है। साहित्य में पर्व का अर्थ खण्ड भाग रूप में लिया जाता है। स्थान भेद और प्रयुक्ति भेद से पर्व के कई अर्थ किये गये हैं- उनमें व्यस्ति, नियति, हर्ष, उन्नति, रक्षा, पालन, तृप्ति, संतुष्टि, सामर्थ्य, उद्धार, निस्तार, भेंट, प्राप्ति, आनन्द, अनुष्ठान, पूर्ति, आल्हाद, विकास तथा यश हैं। ग्रंथि, पुस्तक, पीड़ा को भी पर्व का अर्थ माना जाता है।

उत्सव शब्द की निर्मिति 'उत्' उपसर्ग और 'अप्' प्रत्यय लगने पर (उत्+सू+अप्=) से होती है। ऋग्वेद में 'उत्सव' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ आमोद-प्रमोद, हर्ष, सुख, प्रसन्नता, आनन्द, सम्प्राप्ति, उन्नति, प्रकाश, त्योहार, चहल-पहल आदि है। जितने भी पर्व हैं, वे उत्सव की श्रेणी में आते हैं।

'वृ' धातु से कई क्रियाएँ बनती हैं, जिनमें छोटना, चुनना, पसन्द करना, अपने लिये चुनना, विवाह हेतु वरण करना, प्रार्थना करना, निवेदन करना, याचना करना, ढकना, छिपाना, गोपनीय रखना, दूर करना, परे रहना, विघ्न करना, विरोध करना, रोकना, दबाना, नियंत्रण करना, निरीक्षण करना, सेवा करना, परिचर्या करना, समर्पण करना, स्वीकार करना प्रमुख हैं। लेकिन व्रत शब्द 'वृ' धातु (मूल क्रिया) में 'अतच्' प्रत्यय लगने से बनता है। जिसके अर्थ हैं- चयन, चुनाव, स्वीकृति, पसंद, प्रार्थना, निवेदन, ढक्कन, अवरोध, निरोध, दमन, समर्पण, सेवा, गोपन, दूरी, अलगाव तथा परीक्षण। व्रत शब्द की व्यापक अर्थ व्याप्ति में व्रत के अर्थ अपने प्रिय के समीप जाना, परमात्मा के निकट आना, अपने स्वरूप को प्राप्त होना, भक्ति साधना, प्रतिज्ञा, संकल्प तथा दृढ़

निश्चय आदि कई हैं। इसके अतिरिक्त संस्कार, आस्था, अनुष्ठान, अभ्यास, यज्ञ, उपवास, नियम, विधि, अध्यादेश को भी व्रत कहते हैं। निघण्टुकार ने लिखा है- 'व्रतमिति कर्मनाम्।' अतः कर्म ही व्रत है। संकल्प के साथ कर्म का आचरण ही 'व्रत' है।

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य का जीवन एक पर्व है। अनन्त पर्वों की शृंखला में जीव का वर्तमान जीवन दृश्य पर्व है। यह सुख और दुःख के सूत्रों से निर्मित एक गाँठ है। इस ग्रंथि को खोलना, जानना, पश्चात् शांति को प्राप्त होना जीवन यात्रा का लक्ष्य है। पर्वयुक्त होने से जीवन 'पर्वत' है। पर्वत पूज्य है- 'पर्वताय नमः।'

व्रत अनेक हैं। इन व्रतों के विधान प्रायः सभी पुराणों में मिलते हैं। लोक व्रतों के विधि-विधान लिखित में नहीं, वाचिक हैं। लोक परम्परा से लोग विधानों को अपनी स्मृति में रखते हैं और अवसर आने पर उन्हें व्यवहार में खोलते हैं। शास्त्र में व्रत कौमुदी, व्रतराज, धर्मसिन्धु आदि में 'महानाम्नीव्रत' का विधान वर्णित है। स्मृति ग्रंथों में व्रत के उल्लेख मिलते हैं।

मनुष्य जीवन में जन्म, विवाह और मृत्यु ये तीनों 'महोत्सव' ही हैं। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है- 'अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।' (गीता 8/18) उस निराकार रूप ब्रह्म के सूक्ष्म शरीर से ही सभी स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है। वह सच्चिदानन्द परमात्मा स्वयं ही निराकार रूप से साकार रूप को धारण करता है। यही क्रम सृष्टि चक्र में चलता रहता है, जिसे हमारे यहाँ महोत्सव की तरह लिया जाता है, क्योंकि ब्रह्म ही जन्म लेता है, ब्रह्म ही सृष्टि की निरन्तरता के लिए विवाहित होता है और ब्रह्म का भौतिक शरीर यहीं रह जाता है, जिसे शरीर की मृत्यु कहते हैं। आत्मा निराकार परमात्मा में मिल जाती है। यह किसी 'महोत्सव' से कम नहीं है। भारतीय मनीषा यही कहती है।

पर्व-त्योहार, व्रत-उपवास, आस्था-अनुष्ठान, पूजा-पाठ, जप-तप, यज्ञ-हवन, कथावार्ता आदि हमारी संस्कृति के अनिवार्य अंग-उपांग हैं। हमारी धार्मिक परम्परा में हमारे सारे व्रत और त्योहार अनुस्यूत हैं। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक, असम से लगाकर गुजरात तक व्रतों और त्योहारों की एक अविच्छिन्न परम्परा आज भी देश में विद्यमान है, जो पूरे वर्ष चलती रहती है। देवी-देवताओं में 'अटूट विश्वास' चाहे वे वैदिक देवता हों

अथवा लौकिक, भारतीय लोक की विशेषता रही है। भारत के किसी भी प्रदेश में चले जाएँ, वहाँ प्रतिवर्ष समय-समय पर किसी न किसी देवी-देवता के मेले जुड़ते हैं और उत्सव होता है। लोक देवताओं के प्रति उनका जो अटूट विश्वास है, उसे व्रत या आस्था कहा गया है। जब देवी-देवताओं के प्रति इस प्रकार की भक्ति भावना का प्रदर्शन उमंग एवं उत्साह के साथ होता है तो इसे त्योहार अथवा उत्सव कहते हैं। इस प्रकार के सैकड़ों व्रत एवं त्योहार हमारे देश में मनाए जाते हैं।

भारतीय पर्व-त्योहार ऋतु चक्र से जुड़े हैं, इसलिये इन पर्व-त्योहारों में प्रकृति भी अपने पूरे आनंद के साथ सम्मिलित होती है। व्रत, उत्सव भी किसी न किसी तिथि अवसर से जुड़े होते हैं। पर्व-त्योहार, व्रत-उत्सव का मूल मकसद-मनुष्य जीवन को सत्य से अलंकृत करना है।

'हमारे व्रत, पर्व एवं त्योहार सुख-सौभाग्य के जनक, आयु, आरोग्य के संरक्षक तथा परमात्मा की प्रसन्नता के प्रतीक हैं। यही कारण है कि प्रायः सभी मनुष्य व्रत-पर्वोत्सव से सम्बद्ध होते हैं। मनुष्य की मनुष्यता भी तभी सिद्ध होती है, क्योंकि योगवशिष्ठ के स्थिति प्रकरण में कहा गया है कि साम, दाम, दया, दान आदि गुणों के विषय में संतोष नहीं है। अर्थात् जो इनको बढ़ाना चाहते हैं, जिनका शास्त्र के प्रति अनुराग है अर्थात् व्रत-पर्वोत्सव में जिनका विश्वास है तथा जिनको सत्य के आचरण का ही व्यसन है, वे ही वास्तव में मनुष्य हैं-

येषां गुणेष्वसंतोषो रागो येषां श्रुतं प्रति।

सत्य व्यसनिनो ये च ते नराः पशवोऽपरे॥

व्रत और त्योहारों की आनुष्ठानिक शृंखला के साथ एक और महत्त्वपूर्ण चीज जुड़ी होती है, वह होती है- कथा अथवा वार्ता। जिन्हें व्रत कथा भी कहा जाता है। ये कथाएँ उस व्रत की न केवल महत्ता को स्थापित करती हैं, बल्कि उनमें नैतिक सत्य की आचार-संहिता के पाठ भी होते हैं। इन व्रत कथाओं में जीवन की धार्मिक निष्ठाएँ और आकांक्षाएँ होती हैं। शास्त्र और लोक में इन्हें व्रत के साथ कहने और सुनने की प्रथा है। शास्त्रीय कथाओं में कोई पंडित अनुष्ठान के साथ इन्हें बाँचता है और लोक के व्रतों में प्रायः महिलाएँ एक-दूसरे को अनुष्ठान के साथ कहती-सुनती हैं। यह लोक की बहुत पुरानी परम्परा है। कहते हैं- पाण्डवों को जब

वनवास हुआ तो जो ऋषि उनसे मिलने आते, उनका वे भक्ति भाव से आदर करते और फिर उनसे पूछते- क्यों महाराज! जैसा दुःख हम पर पड़ा है, वैसा क्या और किसी पर भी पड़ा था? ऋषि कहते- राजन्! तुम्हारे दुःख की तो गिनती ही नहीं। वे पूछते सो कैसे महाराज? और तब वे उन्हें कभी राम और सीता की तो कभी नल और दमयंती के कष्टों की कथा सुना देते। पांडवों को यह कथा मालूम नहीं थी, ऐसी बात नहीं थी, लेकिन सुनी हुई बात को बार-बार सुनना और कही हुई बात को बार-बार कहना, ज्ञान प्राप्ति का एक आवश्यक अंग हैं। इसी को लेकर लोककथा वार्ताएँ आदिकाल से संकट के समय मनुष्य का साथ निभाती आयी है।

व्रत और व्रतकथाओं की उत्पत्ति के मूल में स्वयं पार्वती और शिव हैं। पार्वती श्रोता और शिव वक्ता। पार्वती व्रती और शिव स्रष्टा। पौराणिक आख्यानों-उपाख्यानों और कथाओं के जनक स्वयं शिव-पार्वती हैं। निमाड़ी लोक साहित्य अध्येता पद्मश्री रामनारायण व्रत कथाओं के बारे में लिखते हैं- 'पौराणिक आख्यानों के साथ व्रत की वार्ताएँ जुड़ी होती हैं। ये वार्ताएँ क्या हैं? इनमें परिवार के सुख और समृद्धि को लेकर स्त्रियों के व्रत और उपवासों की कथा है। हमारे यहाँ एक भी ऐसा व्रत या त्योहार नहीं होता, जिसके साथ एक न एक वार्ता (कथा) न जुड़ी हो। जैसे चतुर्थी आयी तो गणेश चतुर्थी की कथा। पंचमी आयी तो ऋषि पंचमी की कथा और छठ आयी तो हलछठ की कथा। इन कथाओं का स्वरूप भी कैसा होता है? देखिये- गणेश व्रत की कथा में किस तरह अपने घर आने वाले की सेवा में ईश्वर की सेवा अन्तर्निहित है, इसका माहात्म्य संजोया है। कहते हैं- एक दिन छोटे से गणपति महाराज अपने एक हाथ में सीप भर दूध और पुड़िया में शक्कर और चावल लेकर कई घर गये और बोले- इसकी मुझे खीर बना दो। लेकिन किसी ने भी उनकी बात नहीं सुनी। सबने कहा कि हमको फुरसत नहीं है। सिर्फ एक बहन ने अपने हाथ का काम छोड़कर उनका काम कर दिया और उनका घर धनधान्य से भर उठा। कितनी सुन्दर बात है, दूसरों की सेवा में ही घर की समृद्धि अन्तर्निहित है। यही इस कथा का अर्थ और मर्म है।

स्त्रियों की व्रत कथाओं के पीछे मंगल भावनाओं के साथ पति की दीर्घायु की कामनाएँ भी होती हैं। कुँवारी कन्याओं को

अच्छे वर की प्राप्ति की इच्छा होती है। परिवार की सुख समृद्धि की आशा होती है। इसलिये महिलाएँ कठिन से कठिन व्रत के यम-नियमों को अक्षरशः निभाने का प्रयत्न करती हैं। व्रत-उपवास करने में चाहे जितना शारीरिक कष्ट हो, पर महिलाएँ व्रत करना नहीं छोड़ती हैं। कभी-कभी तीन-तीन व्रत-उपवास एक साथ लगातार आ जाते हैं, निराहार और निर्जल व्रत-उपवास भी होते हैं। चन्द्रायण जैसे कठिनतम व्रत भी इसमें शामिल हैं। नवरात्रि व्रत में कई स्त्री-पुरुष पूरे नौ दिन तक बिना कुछ खाये व्रत रखते हैं और घर का सब काम भी करते हैं। उनका मानना है कि ऐसे व्रत-उपवास करने से आत्मिक शक्ति बढ़ती है। भले ही कुछ शारीरिक कमजोरी हो सकती है, लेकिन शरीर कई बीमारियों और विकारों से बचा रह जाता है। व्रत-उपवास में कई प्रकार के निषेध और नियमन होते हैं, अनुष्ठान और पूजा सामग्रियाँ होती हैं। व्रतों में फलाहार पर प्रतिबंध नहीं है, बल्कि अमुक व्रत में अमुक फल, अनाज आदि खाने-पीने का रिवाज है। व्रतों के आहार को लेकर एक भरी पूरी श्रृंखला ही हमारे यहाँ मौजूद है।

'महिलाओं द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक व्रत किसी न किसी विशेष प्रयोजन से सम्बद्ध है। ये व्रत केवल कोरी भावुकता नहीं हैं, अपितु इनके पीछे ऋषीप्रणीत विज्ञान है। उत्तरायण-दक्षिणायन की गोलाद्ध स्थिति, चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कलाओं, नक्षत्रों का भूमि पर आने वाला प्रभाव, सूर्य की किरणों का मार्ग इन सबका महिलाओं के शरीरगत ऋतु परिवर्तन एवं अग्निवों के साथ सम्बन्ध होने से विशिष्ट परिणाम को ध्यान में रखकर ही व्रतोपवासों को निर्धारण किया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन व्रतोपवासों का माहात्म्य किसी न किसी कथावार्ता के साथ संयुक्त कर दिया है। ये कथाएँ स्त्रियाँ हाथ में चावल और फूल रखकर बड़े मनोयोग निष्ठा और पवित्र भाव से सुनती हैं और जीवन में उनके परिणामों को गुनती हैं। क्योंकि व्रत के करने और कथा-श्रवण के पुण्य फल से वे कदापि वंचित नहीं रहना चाहती हैं। इसके लिए वे अपने जीवन में व्रत-उपवास करने और कथा-श्रवण के प्रत्येक अवसर को खोना नहीं चाहती हैं। इसके निमित्त वे मनोतियाँ करती हैं। दृढ़ संकल्प करती हैं। कथाओं में कहे गए वचनों, उपदेशों और संदेशों का सदैव स्मरण करती हैं और आचरण में उतारने का प्रयत्न करती हैं। पुरुष द्वारा किये गये व्रत-उपवास इतने निष्ठापूर्ण नहीं हो सकते, लेकिन प्रत्येक महिला

के द्वारा किया गया व्रतानुष्ठान पूर्ण निष्ठा और आस्था से परिपूर्ण होता है। इसलिये पूरे वर्ष भर महिलाएँ व्रतोपवास करती दिखायी देती हैं। एक महिला कोकिला व्रत और उसकी कथा सुनने के लिये बारह वर्ष तक धैर्य रख सकती हैं, क्योंकि कोकिला व्रत बारह वर्ष में एक बार आता है। महिलाएँ उसके आने की प्रतीक्षा करती रहती हैं। कोकिला मूलतः दक्षिण भारत का व्रत है, लेकिन उत्तर भारत में भी इसका प्रचलन हो गया है। बारह वर्ष में आने के कारण कोकिला की कथा प्रायः महिलाओं द्वारा विस्मृत हो जाती है, तब कथा सुनने के लिये महिलाएँ अपनी बड़ी-बूढ़ी महिलाओं की शरण में जाती हैं और उनसे कोकिला-कथा सुनती हैं, क्योंकि कथावार्ता सुने बिना व्रतोपवास अधूरा माना जाता है।

एक विचारक ने लिखा है- 'चाहे प्रवृत्ति मार्ग हो अथवा निवृत्ति मार्ग, चाहे लौकिक उन्नति की बात हो या पारलौकिक की, चाहे ज्ञान निष्ठा का क्षेत्र हो अथवा हो कर्म निष्ठा का- सभी प्रकार की साधना, आराधना और उपासना की सफलता में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन में गतिशीलता लाने के लिए व्रतों का दृढ़तापूर्वक धारण और परिपालन आधार स्तंभ माना जाता है।' यही कारण है कि हमारे पुरातन योगारूढ़ ऋषि-महर्षियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा सत्-असत्, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य, बन्ध-मोक्षकारक सूक्ष्म तत्त्वों के परिणामों का अवलोकन कर जीवों के कल्याणार्थ एवं उद्धारणार्थ इन विभिन्न प्रकार के व्रतों, पर्वों, त्योहारों, उत्सवों और कथाओं की उपयोगिता का कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत निरूपण किया है।

व्रत कथा वार्ताओं का स्वरूप और शैली दोनों अद्भुत होती है। ये वार्ताएँ कथा की तरह प्रारम्भ होती हैं और अन्त में जाकर किसी फलित पर समाप्त हो जाती हैं। फलित स्वयं एक संदेशात्मक प्रतिपूर्ति बन जाता है, जो आचरण में उतारने की सबको प्रेरणा देता है। यही कारण है कि इन कथाओं को श्रवण करने का भी पुण्य होता है। यह पुण्य स्वर्ग-नरक से लगाकर कई-कई जन्मों तक पीछा करता है। बहुत कथावार्ताएँ ऐसी हैं, इस जन्म का फलित अगले जन्म में जाकर प्रकट होता है। कथावार्ताओं का फलित अथवा वचन कभी अशुभ की नींव पर खड़ा नहीं होता। जैसे दशामाता की वार्ता के अन्त में कहा जाता है- 'दशामाता पहले टूटी वैसी कोई के मत टूटजे, पीछे टूटी ऐसी सबके टूटजे।' राजस्थान, मालवा, निमाड़ में सारी कथावार्ताओं

के अन्त में एक आसवचन दुहराया जाता है- 'उसके टूट्या जैसा सबके टूटजो और अधूरी होय तो पूरी करजो, पूरी होय तो मान करजो।' इस आकांक्षा को जरा गौर से देखने की जरूरत है। उसके टूट्या मतलब प्रसन्न हुए, आशीर्वाद दिए, वरदान दिया जैसे ही सबके लिए कामना की गई है- जैसा सबके टूटजो। मैं सोचता हूँ इससे बढ़कर 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की विश्व कल्याण की भावना और कौन-सी हो सकती है, जो हमारी व्रत कथाओं में अत्यन्त सरल रूप से पिरोयी गई है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन व्रतों के करने से ही कथाओं के श्रवण-फल का लाभ मिलता है। ऐसे ही सुनने से कोई लाभ नहीं होता। यानी ये कथाएँ बिल्कुल कीलित मंत्र की तरह हैं। करने पर फलित अवश्य हैं।

व्रत कथावार्ताएँ भारतीय आख्यान परम्परा की देन है। भले ही इन कथाओं का स्वरूप आख्यान या आख्यायिका के समान विस्तृत नहीं है, लेकिन ये छोटे-छोटे कथा रूप किसी पौराणिक पुराण के अर्थपूर्ण अंश ही हैं। इनमें भी आख्यान जैसी चमक और गमक है। बहुत-सी व्रत-उपवास की कथाएँ सीधे वेद-पुराण, उपनिषद् आदि से सम्बद्ध हैं, जिनका विस्तार लोक तक विभिन्न रूपों में फैला है। सारी व्रत कथाओं के केन्द्र में शिव और पार्वती हैं, पार्वती स्वयं व्रत और उनसे संबंधित कथाओं की जननी है। जैसे पार्वती आद्यशक्ति है, सारी सृष्टि ही उससे उत्पन्न है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल व्रतकथाओं के बारे में लिखते हैं कि 'व्रत कथाओं का वर्ग, जिसका लोककथाओं में एक विशिष्ट स्थान है, प्राचीनकाल में 'व्रतावदान' कहलाता था। किसी व्रत या तीज-त्योहार की परिसमाप्ति पर जो कहानी कही-सुनी जाती थी, वह उतनी ही महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी, जितना कि यज्ञीय कर्मकाण्ड के साथ पठित। प्रत्येक व्रत-हवन की भाँति एक धार्मिक अनुष्ठान है। यह एक धार्मिक कृत्य है, जिसका मूल उद्देश्य देवता का आह्वान, देवता की संतुष्टि या देवता से सम्पर्क करना है। जहाँ देवतत्त्व का सान्निध्य होता है, वहाँ पवित्र करने वाली संस्कृति या यज्ञीय वाक् का आश्रय आवश्यक है। इसका कारण यह है कि जहाँ वाक् या शब्द आकाश का पंचगुण होने से न केवल भौतिक वरन् पाँचों भूतों में सर्वाधिक सूक्ष्म है और बिना भूत के माध्यम के देवतत्त्व का ग्रहण संभव नहीं। भूत की

परिशुद्धि से देव या प्राण की परिशुद्धि संभव है। इसलिये प्रत्येक धार्मिक उत्सव पर वाक् का आश्रय आवश्यक है। चाहे वह मंत्र के रूप में हो या यज्ञीय गद्य वाक्यों के रूप में हो अथवा जैसे कालान्तर में हुआ, देवता संबंधी स्रोत या धार्मिक कहानी के रूप में हो। इस प्रकार के व्रत संबंधी अवदान आज भी स्त्रियों में प्रचलित हैं।

जिन कथावार्ताओं के साथ व्रत-उपवास और अनुष्ठान जुड़े हैं, इनमें परिवार की मांगलिकता की कामना सुख-समृद्धि की चाहत, अच्छे वर प्राप्ति की आकांक्षा, दूध-पूत से फलने-फूलने की भावना और सबके कल्याण की मूल प्रार्थना निहित है। अमंगलों, कष्टों, विघ्नों तथा संकटों से बचने या बचे रहने की भावना भी इनमें समाहित है। व्रत में नियमितता पहली शर्त है। व्रत की नियमितता किसी पुण्य अथवा मंगल की सृष्टि करती है।

व्रत-उपवास, अनुष्ठान और व्रत के साथ कही-सुनी जाने वाली कथाओं में अपार शक्ति होती है। जीवन में संयम और आत्म नियंत्रण मनुष्य को उसी व्रत की शक्ति से मिलता है। व्रत-उपवास और उनसे संबंधित कथा कहने तथा सुनने वाले न जाने कितने लोगों के मुख से सुना है कि व्रत करने के पश्चात् वे उनके भीतर एक अलौकिक शक्ति का संचार महसूस करते हैं। वे एक नयी अनूठी ऊर्जा से भर उठते हैं। जबकि संयमित भोजन, फलाहार, अन्न, जल-नमक जैसे पदार्थों का परित्याग जीवन में शुद्धाचार, विचार, व्यवहार और वाणी की पवित्रता को प्रकट करता है। धर्म के प्रति निष्ठा बढ़ती है। परमात्मा के प्रति श्रद्धा, भक्ति और आत्मानुशासन का जागरण होता है। संकल्प शक्ति बढ़ती है। इससे भी बढ़कर व्रत-उपवास और कथा श्रवण में यह बात होती है कि व्रती अपनी 'आत्मा के नजदीक' पहुँच जाता है। वह व्यक्ति आत्मा की सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनियों को सुन सकता है और यदि व्यक्ति अपनी 'आत्मा की आवाज' सुन सकता है तो वह परमात्मा के भी बहुत समीप पहुँच जाता है। इससे शरीर की शुद्धता, विचारों की पवित्रता, मन की एकाग्रता और आचरण की शुद्धता तो बढ़ती ही है, साथ ही अन्तःस्थल में परमात्मा के प्रति 'श्रद्धा-भक्ति और शांति' का भी संचार होता है। व्रत-उपवास से शारीरिक कष्ट तो मिटता ही है, साथ ही आत्मिक बल, जिसे 'आध्यात्मिक बल' भी कहते हैं, बढ़ जाता है। शेष काम व्रत के साथ कही-सुनी जाने वाली कथाएँ कर देती हैं। वे अपने पीछे

एक 'सुविचार' छोड़ जाती हैं। जो मन-मस्तिष्क दोनों की पवित्र खुराक बन जाती है। मेरी दृष्टि में व्रत कथाएँ साधारण कथाएँ नहीं हैं, उनमें असाधारण 'करणीय शक्ति' होती है। ये कथाएँ साहित्य से भी बहुत ऊपर उठकर कुछ रचना करती हैं, जिसकी व्याख्या 'कोई बुद्धि' नहीं कर सकती है। ये कथाएँ बुद्धि से परे 'भावजगत' की चीजें हैं। तर्क से जिसे नहीं समझा जा सकता। उनमें जो कुछ भी बुना गया है, रचा गया है, वह और ही कुछ है। मैं सोचता हूँ, वह 'मनुष्य सृजन' के लिए है। इससे बढ़कर व्रतकथाओं का और क्या 'दाय' हो सकता है। यह 'शब्द की वाचिकता' की भी 'अपार शक्ति' है।

व्रत कथाएँ किसी न किसी तीज-त्योहार से जुड़ी हैं, यानी ये 'कथाएँ समय सापेक्ष' भी हैं। ये कथाएँ उसी समय-अवसर पर ही कही-सुनी जाती हैं। प्रायः व्रत-उपवास के चरम पर अनुष्ठान के अन्त में इनकी जगह रखी गयी है यानी कि 'शरीर और मन का वह परिपक्व जागृत समय' जब आता है, तब ही कथावार्ता कही-सुनी जाती है। ऐसे में व्रती के भीतर के 'सातों चक्र' अपने आप जाग्रत हो उठते हैं और कथा सुनते-सुनते व्रती एक दिव्यता का आभास महसूस करता है और यह किसी तप से कम नहीं होता। जरा एक बार व्रत-उपवास इस तरह करके तो देखिये। इन कथाओं को इतनी तल्लीनता से सुनकर तो देखिए। मैं सोचता हूँ कोई भी व्यक्ति इतनी पवित्रता से, दृढ़ संकल्प से व्रत-उपवास और व्रत कथाओं के पास जाए तो उसकी अजस्र शक्ति और ऊर्जा से वंचित नहीं हो सकता। आप एक सुरक्षा कवच में अपने आप जाएँगे। फिर आपको अलग से सुरक्षा प्रयत्न करने की जरूरत नहीं होगी।

लोक में यह कहा जाता है कि 'जितने व्रत, उतनी कथाएँ' इसका मतलब हर व्रत और तीज-त्योहार के साथ कोई न कोई कथावार्ता अवश्य होती है। व्रतों के साथ एक बात और है कि कोई व्रत कहीं प्रचलित है तो कहीं नहीं है। व्रतों की आवाजाही भी लोक में होती है। एक प्रदेश का व्रत दूसरे अंचल में किया जाने लगता है। पहले करवा चौथ, उत्तरप्रदेश और पंजाब में किया जाता था, अब कमोवेश समूचे देश में यह व्रत उसी निष्ठा से किया जाता है। कुछ व्रत नितान्त स्थानीय होते हैं। उनकी कथाएँ भी 'आंचलिक संस्कृति- बोली' से पगी होती हैं। इस स्थानीयता के कारण व्रत और कथाओं में विविधता के रंग घुल गये हैं। हर

अंचल की बोली के साथ अनेक स्थानीय व्रत-उपवास, तीज-त्योहार और कथाएँ मिलती हैं। मध्यप्रदेश के पाँचों बोली अंचलों के अपने-अपने व्रत-उपवास, तीज-त्योहार और उनसे संबंधित कथाओं का संसार मौजूद है। यहाँ 'बारह मास आठों पहर' व्रत कथाओं का दौर चलता रहता है। यहाँ प्रत्येक वार की कथा है तो बारह या अठारह वर्ष बाद पड़ने वाले कोकिला व्रत की भी कथाएँ हैं। दशहरा-दीपावली की भी कथाएँ हैं, और करवा चौथ, वटसावित्री की कथाएँ हैं। ऐसा लगता है कि लोकमानस व्रत कथाओं के बिना रह नहीं सकता। हमारे पूर्वजों ने व्रत कथाओं का एक सांस्कृतिक जाल ही बुन दिया है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी इस जाल के ताने-बाने में अपने सुख-दुःख, अपना अस्तित्व, अपना अतीत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ तलाशती नजर आती है। परम्परा उसे आगे बढ़ाती है और पोषित करती है। वार-त्योहार और ऋतुएँ भी इसमें सहायक हैं। प्रकृति इनके साथ चलती है। ग्रह-नक्षत्र भी इनका साथ देते हैं और देवी-देवताओं की तो बात ही निराली है। सचमुच में व्रत कथाएँ देवी-देवताओं से सजीव संवाद ही स्थापित करती हैं, जिसमें व्रती के मनोभाव व्यक्त होते हैं। प्रतिउत्तर मिलते हैं। मन के समाधान मिलते हैं और तो और जीवनकल्प की अगाध सन्तुष्टि मिलती है। इस रूप में व्रत-उपवास और कथाएँ असाधारण होती हैं।

व्रत कथाओं में सारा चराचर उपस्थित होता है। थलचर, जलचर और नभचर सभी अपनी-अपनी भूमिका में अवतरित होते हैं। मनुष्य, देव, दानव, राक्षस, भूत-प्रेत, जादू-टोना, तारण-मारण, मंत्र-तंत्र, आकाश-पाताल, स्वर्ग-नर्क आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्रत कथाओं में शामिल होता है। बीज प्रश्नाकुलता और फल की उत्तरापेक्षा दोनों इन कथाओं में बराबर परिमाण में मौजूद होते हैं। इनमें जगत् और जीव का कोई प्रश्न छूटा नहीं है, और न कोई उत्तर शेष रहा है, यह व्रत कथाओं की समष्टि और नियति है।

व्रत-उपवास, अनुष्ठान और उनसे संबद्ध कथाएँ यह एक प्रकार का चतुष्टय है- जिनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामनाएँ हैं। प्रत्येक व्रत और त्योहार के साथ कोई न कोई एक कथा अवश्य जुड़ी होती है। यह सिलसिला संवत्सर के चैत्र माह के प्रथम दिन 'गुड़ी पड़वा' या वर्ष प्रतिपदा से शुरू हो जाता है और उसके बाद चैत्र की 'भाई दूज', 'गणगौर व्रत', 'रामनवमी', चैत्री पूर्णिमा यानी 'हनुमान जयन्ती' सबसे महत्त्वपूर्ण चैत्र माह में

चैत्र नवरात्रि का पर्व होता है जो नौ दिन तक चलता है, जिसमें भगवती दुर्गा और कन्या पूजन का महत्त्व है। इसके साथ 'राजा सुरथ' और 'एक वणिक' की कथा में मधु-कैटभ और महिषासुर के उपाख्यान पिरोये गये हैं। जो पृथ्वी की प्रारंभिक पौराणिक कथावार्ताएँ हैं, जो ऋषि मुख से कही गयी हैं। लोक इसे बुजुर्ग महिलाओं या पंडितों से सुनता है। भाईदूज में 'भाई-बहन' के पवित्र स्नेह की कथा है। गणगौर पर्व में पार्वती की तपस्या और शिव की प्राप्ति की कथा कही जाती है। रामनवमी में राम की कथा और हनुमान जयन्ती पर हनुमान के जन्म और कर्म की कथाएँ कही जाती हैं।

वैशाख में शीतलाष्टमी पर घर में चूल्हा नहीं जलता, बासी खाना खाया जाता है। इसमें शीतलामाता के प्रकोप और प्रसन्नता की कथावार्ता चलती है। बरूथनी एकादशी यानी वैशाख कृष्ण पक्ष की एकादशी व्रत सुख सौभाग्य का प्रतीक है। इसमें नर्मदा तट के पौराणिक 'राजा मान्धाता' की कथा पिरोयी गई है। अक्षय तृतीया को परशुराम की जन्मतिथि, त्रेतायुग का प्रारम्भ माना जाता है। यह तिथि शुभ मुहूर्त के लिए भी मानी जाती है। मोहनी एकादशी, वैशाख शुक्ल पक्ष में मनाई जाती है। नृसिंह जयन्ती पर हिरण्यकश्यपु की कथा श्रवण की जाती है। जिसमें प्रह्लाद भगवान की भक्ति कर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। आसामाई का व्रत वैशाख, आषाढ़ और माघ माह के किसी रविवार को रखा जाता है। जिसमें एक शैतान राजकुमार की कथा का पारायण होता है। वैशाख का महत्त्व व्रत-त्योहार 'वट सावित्री व्रत' है, जो महिलाओं से संबंधित है। जिसमें राजकन्या सावित्री और द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान की पुराण प्रसिद्ध कथा का विस्तार मिलता है।

ज्येष्ठ में गंगा दशहरे का पर्व मनाया जाता है, इसी दिन सृष्टि की नदियों में श्रेष्ठ गंगा भागीरथ के प्रयत्न से स्वर्ग लोक से पृथ्वी पर अवतरित हुई थी। यह तिथि ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को पड़ती है। इसमें जग प्रसिद्ध सगर राजाओं के उद्धार का पौराणिक आख्यान पिरोया गया है। निर्जला एकादशी ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष में आती है। इसे भीमसेनी एकादशी भी कहते हैं, क्योंकि वेदव्यास के कहने पर इसे महाभारत कालीन भीमसेन ने किया था और फलप्राप्ति की थी।

आषाढ़ मास की देवशयनी एकादशी व्रत सबसे महत्त्वपूर्ण

माना जाता है। इस दिन से भगवान् विष्णु चार मास की अवधि तक बलिद्वार पाताललोक में निवास करते हैं और कार्तिक माह की शुक्ल एकादशी को प्रत्यागमन करते हैं, जिसे 'देव प्रबोधनी' एकादशी कहते हैं। इस दिन चार मास तक सोये सभी देवी-देवता जाग्रत अवस्था में आ जाते हैं। इसी दिन शुभकार्य विवाहादि प्रारम्भ हो जाते हैं। इन चार महीनों में अनेक व्रत-उपवास, पर्व-त्योहार आते हैं। जिनकी एक क्रमबद्ध शृंखला है। बारह या अठारह वर्ष में जब दो आषाढ मास पड़ते हैं, तब महिलाएँ 'कोकिला व्रत' करती हैं, जिसे स्वयं पार्वती ने किया था। विशेषकर यह व्रत उत्तर भारत में दक्षिण भारत से आया है। जिसमें दक्ष प्रजापति शिव और सती के कथा सूत्र मिलते हैं। यह स्त्री के मान-सम्मान और स्वाभिमान की महान कथा है। इसमें सती स्वयं दस हजार वर्ष तक 'कोकिला' के रूप में नन्दनवन में रही। तत्पश्चात् दूसरे जन्म में 'पार्वती' बनकर आषाढ में नियमित एक मास तक यह व्रत किया, तब स्वयं शिव उन्हें पति रूप में मिले।

श्रावण में मंगला गौरी व्रत मंगलवार को किया जाता है। सोलह सोमवार व्रत का उजवना सोलह सोमवार व्रत कथा माहात्म्य सुनकर ही पूर्ण किया जाता है। इसी माह कृष्ण पक्ष में 'कामिका (पवित्रा) एकादशी' आती है। जिसकी कथा सुनकर एक ठाकुर 'ब्रह्म हत्या' जैसे जघन्य पाप से मुक्त हो जाता है। नागपंचमी श्रावण मास का 'महाव्रत' है। इसे पूरे भारत वर्ष में प्रकारान्तर से मनाया जाता है। जिसका गरुड़पुराण आदि में विस्तार से वर्णन किया गया है। जिसमें अभागी सातवीं बहू की कथा कही जाती है, जिसकी नाग देवता भाई बनकर सहायता करते हैं। सावन में ही शुक्ल पक्ष में 'पुत्रदा एकादशी' में माहिष्मती नगरी के महीजित नामक राजा की कथा कही जाती है, जिसे लोमश ऋषि ने व्रत करने की प्रेरणा दी थी, जिससे उनका निःसन्तानत्व समाप्त हुआ था। इसीलिए इसे 'पुत्रदा एकादशी' कहते हैं। रक्षाबंधन सावन की पूर्णिमा को किया जाता है, जिसमें कृष्ण और कृष्णा यानी द्रोपदी की कथा कही जाती है। देवासुर संग्राम की कथा से भी रक्षाबंधन का संबंध है।

भाद्रपद में 'हलछठ' महिला व्रत की श्रेणी में आता है। यह कृष्ण पक्ष की षष्ठी को मनाया जाता है। इसी दिन कृष्ण के बड़े भाई हल-मूसलधारी बलराम का जन्म हुआ था। कई लोग इसे माता सीता का जन्मदिन (प्रकट दिवस) भी मानते हैं।

बलराम का नाम 'हलधर' भी है। इसी हलधर के नाम पर हलषष्ठी यानी 'हलछठ' का व्रत और कथा कही-सुनी जाती है। प्रमुख रूप से इसे पुत्रवती महिलाएँ ही करती हैं। हली हुई भूमि पर उगा अन्न खाना इस व्रत में वर्जित है। गाय का दूध भी नहीं लिया जाता। इस व्रत के करने से स्त्रियों का सुहाग अचल रहता है। इसमें एक ग्वालिन की प्रायश्चित्त कथा को गूँथा गया है। इसे कहीं-कहीं 'ललिता अथवा ललही छठ' भी कहा जाता है। भाद्रपद मास में जन्माष्टमी सबसे बड़ा पर्व और व्रत है। इस दिन भगवान् कृष्ण का जन्म भाद्रपद कृष्ण पक्ष की अष्टमी को हुआ था। इस अवसर पर कृष्ण द्वारा कंस के वध की कथा का स्मरण किया जाता है और कृष्ण के जन्म की कारक-कथा को दोहराया जाता है, जिसमें पृथ्वी का भार उतारने के लिए भगवान् विष्णु धरती पर कृष्ण के रूप में अवतार लेते हैं। ब्रजवारस या बछवारस व्रत भाद्रपद द्वादशी को मनाया जाता है। इस दिन व्रत करके गाय और बछड़े की पूजा करती हैं। इसमें एक राजा के पोते और बछड़े की बलि और पुनर्जीवित होने की कथा कही जाती है। इस माह का 'हरतालिका तीज' महिलाओं का सबसे प्रमुख व्रत है, जो भाद्रपद शुक्ल पक्ष की तृतीया को किया जाता है। स्त्रियाँ इस दिन व्रत करके बालू के शिव-पार्वती की अपने हाथों से मूर्तियाँ निर्मित करती हैं और पूजा अनुष्ठान करती हैं। इसमें पार्वती के तप और शिव को पाने की कथाच्युत है। भाद्रपद के शुक्लपक्ष की चौथ को 'गणेश चतुर्थी' व्रत की संज्ञा दी जाती है। इसमें गणेश के 'गजानन' रूप में प्रकटीकरण की अत्यन्त कारुणिक कथा कही जाती है। भाद्रपद शुक्ल पंचमी को 'ऋषि पंचमी व्रत' का नाम दिया गया है। यह पुरुष-महिला व्रत है। यह ब्रह्माजी द्वारा निर्देशित व्रत है, जिसे राजा सिताश्व ने किया था और सभी पापों से छुटकारा पाया था। अनन्त चतुर्दशी में भाद्र शुक्ल को शेषशैय्या पर विश्राम करने वाले भगवान् विष्णु की पूजा की जाती है। इसमें सुमन्त और सुशीला नामक ब्राह्मण परिवार की कथा कही जाती है। गाज बीज व्रत भी भाद्रपद में ही आता है। इसमें गाज बीज की कथा कही जाती है, जो निःसन्तान राजा और रानी की कथा है। गाज माता की कृपा से रानी और भील-भीलनी का बाँझपन समाप्त हो गया था।

महालक्ष्मी व्रत आश्विन कृष्ण की अष्टमी को किया जाता है। इसमें कई जगह मिट्टी के हाथी पर बैठी लक्ष्मी मूर्ति की पूजा

की जाती है। इसमें एक गरीब ब्राह्मण की कथा कही जाती है। आश्विन कृष्ण पक्ष की एकादशी 'इंदिरा एकादशी' कहलाती है। इस व्रत-उपवास में माहिष्मती नगरी में राज्य करने वाले राजा इन्द्रसेन की कथा कही जाती है। उन्होंने दिवास्वप्न देखकर यमलोक में कष्ट भुगत रहे माता-पिता को यातना से मुक्त किया था और उन्हें स्वर्ग का सुख प्राप्त हुआ था। आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से नवमी तक नवरात्रि पर्व मनाया जाता है। नवरात्रि में स्त्री-पुरुष दोनों व्रत-उपवास करते हैं। नौ दिन तक नौ देवियों की पूजा और उनकी कथाओं का स्मरण किया जाता है।

कार्तिक मास का करवा चौथ महिलाओं का सबसे प्रमुख व्रत है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ पति की रक्षार्थ यह व्रत करती हैं और रात्रि में शिव, चन्द्रमा और कार्तिकेय की पूजा करके चन्द्र दर्शन कर चलनी में अपने पति का मुख देखती हैं। इसमें एक साहूकार उसके सात बेटे और एक बेटी की कथा कही-सुनी जाती है। अहोई अष्टमी का व्रत कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी को पड़ता है। यह व्रत बच्चों की माताओं के लिए है। इसमें अहोई देवी के चित्र के साथ दो सेही और उसके बच्चों का चित्रण कर पूजा की जाती है। यह व्रत छोटे बच्चों के कल्याणार्थ किया जाता है। इसमें चन्द्रभान नाम के एक साहूकार की कथा भी कही जाती है। नरक चौदस कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी धनतेरस के एक दिन बाद मनायी जाती है। इसमें प्रातःकाल अपामार्ग (अतिसार) पौधे की काड़ियों को सिर पर रखकर स्नान किया जाता है। शाम को यमराज के लिये दीपदान किया जाता है। कहा जाता है कि इसी दिन भगवान श्रीकृष्ण ने नरकासुर का वध किया था। इसमें 'रन्तीदेव' की कथा सुनी जाती है। कार्तिक शुक्ल पक्ष की द्वितीया तिथि को भाईदूज अथवा भैया दूज कहा जाता है। इसमें अलग-अलग अंचल में अलग-अलग व्रत कथाएँ प्रचलित हैं। यम-यमी की पौराणिक कथा भाईदूज पूजा में अवश्य सुनी जाती है। सूर्य षष्ठी बहुत महत्त्वपूर्ण व्रत है। यह कार्तिक मास की शुक्ल षष्ठी को मनाया जाता है। इस दिन सूर्य देवता की पूजा का विशेष

माहात्म्य है। इसमें महीपाल नामक वणिक की कथा का समावेश है। आंवला नवमी कार्तिक शुक्ल नवमी को मनाई जाती है। इसमें आंवले की पूजा के साथ काशीनगर के धर्मात्मा लेकिन निःसन्तान वणिक की कथा जुड़ी है। कार्तिक शुक्ल एकादशी को देवोत्थानी या देवप्रबोधनी एकादशी कहा जाता है। इसे देवठान एकादशी भी कहते हैं। इसी दिन तुलसी का सालिगराम से विवाह सम्पन्न कराया जाता है। स्त्री-पुरुष दोनों इस व्रत में शामिल होते हैं।

अगहन के शुक्ल पक्ष की एकादशी को 'मोक्षदा एकादशी' कहा जाता है। इसी दिन भगवान् श्रीकृष्ण ने महाभारत के प्रारम्भ होने से पूर्व मोहित अर्जुन को श्रीमद्भगवद् गीता का उपदेश दिया था। पौष मास में एकादशी व्रत और उनसे संबंधित कथाओं का वाचिक पाठ किया जाता है। माघ में संकट चौथ का व्रत किया जाता है, जिसमें गणेश और कार्तिकेय की कथा कही जाती है। शीतला षष्ठी माघ कृष्ण छठ को मनायी जाती है। ठंडा भोजन किया जाता है और शीतला माता की पूजा की जाती है। इसमें एक वैश्य की कथा भी कही जाती है।

फागुन में शिवरात्रि महापर्व के रूप में सारे भारत में अवतरित होती है। महाशिवरात्रि व्रत-उपवास और कथा तीनों का अद्भुत संगम है। यह फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को मनाया जाता है। इसमें स्त्री-पुरुष दोनों फलाहारी अथवा एक समय भोजन करने का व्रत रखते हैं। शिव की आराधना करते हैं। इसमें एक 'बहेलिया के व्रत' और शिव को चढ़ने वाले 'बेल पत्र' की कथा सुनने का बड़ा महत्त्व है। फाल्गुन के बाद फिर से चैत्र माह में व्रत-उपवास, पर्व-त्योहार, उत्सव, कथावार्ता का क्रम शुरू हो जाता है और फिर से भारतीय लोक मानस व्रत कथाओं की पवित्र स्मृतियों को तरोताजा करने लगता है, फिर कहीं वह आत्मा की शुद्धता की ओर अग्रसर होने लगता है और यह शृंखला पृथ्वी पर मनुष्य के साथ चलती-चलती ही रहेगी।

व्रत-त्योहार और आहार- व्यवहार

डॉ. भानुशंकर मेहता

हमारा देश आनंदलोक है- मंगलमय लोक है। यहाँ हर दिन त्योहार है, उत्सव है और वाराणसी तो छोटा भारत ही है। यहाँ 'सात वार नौ त्योहार' का चलन है। व्रत तो नित्य ही होते हैं। व्रत में खास बात यह है विशेष आहार का प्रावधान होता है और वाराणसी में जितनी फरारी (फलहारी) मिलती है, शायद उतनी अन्यत्र कहीं नहीं। व्रत में क्या खाते हैं, क्या नहीं- इस विषय में पाकशास्त्र उतना मुखर नहीं है। अतः सोचा कि आओ इसकी खोज की जाय।

व्रत और महाव्रत में सबसे बड़ी चीज है- 'उपवास' और स्वास्थ्य के लिये उपवास बड़ी चीज है, बशर्ते कि समझ- बूझकर किया जाय। उदाहरण के लिये मधुमेह के रोगी को कतई उपवास नहीं करना चाहिये। उपवास के भी रूप हैं, एक तो है निर्जल उपवास जो बड़ा कठिन है। हमारे यहाँ औरतें डालाछठ का व्रत रखती हैं- थूक भी नहीं घोटतीं। यहाँ इस्लाम की चर्चा कर लें। वे एकमात्र रमजान मास में रोजा रखते हैं और सूर्योदय से पूर्व खा-पी लेते हैं, पर दिन में कुछ भी नहीं खाते-पीते, थूक भी नहीं घोटते। फिर शाम को खजूर खाकर रोजा तोड़ते हैं। रात में खाने-पीने की छूट है। यह प्रथा मूलतः अरब देश की है, जहाँ रेगिस्तान है और इस व्रत द्वारा लोगों की अभ्यास कराते हैं कि कभी मरुस्थल में भटक गये तो जल-बिना कई दिनों तक जीवित रह सकें।

दूसरा चरण है 'निराहारव्रत' कुछ भी नहीं खाना केवल जी पीना। अगले दिन व्रत का परण होता है, तब जलेबी-जैसा मिष्ठान खाकर जल पीते हैं। एक मजेदार बात है 'तीज' जैसे व्रत में, जिसमें सायंकाल पूजा के बाद मिठाई फल खाते हैं- नमक एकदम नहीं, पर व्रत की पूर्वसंध्या में 'डाटा' होता है अर्थात् डटकर गरिष्ठ भोजन करना। रबड़ी, मलाई, कचौड़ी आदि पेटभर खाते हैं।

व्रत का एक और रूप है- प्रदोष। दिनभर उपवास करके सायंकाल एक बार भोजन करते हैं। कुछ लोग हविष्यान ख्राते हैं अर्थात् बिना हल्दी का भोजन। एक और प्रथा है अलोना खाने की अर्थात् बिना नमक का भोजन। व्रत भी एक तपस्या है। नवरात्र में देवीव्रत करने वाले नौ दिन एकान्न खाने का व्रत लेते हैं, एक फल खाते हैं, केवल दूध ग्रहण करते हैं। नौ दिनों का कठोर व्रत सहन करना बड़ी हिम्मत का काम है।

सबसे बढ़िया और मजेदार कार्य व्रत है, क्योंकि इसमें रोज की दाल-रोटी से छुट्टी मिलती है नया स्वाद और नये पकवान-फलाहार या फरारी खाने को मिलते हैं। नाम भले फलाहार हो, पर कचरकूट जमकर होती है। इसकी चर्चा रोचक है पर यहाँ बता दें कि एक बार भोजन-प्रदोष करने वाले बहुधा दिन में फलाहार ले लेते हैं। दूसरी ओर श्राद्ध-जैसे अवसर पर दोपहर को भोजन तो कर लेते हैं, पर शाम को कुछ नहीं खाते या फिर दूध, फल, आलू खा लेते हैं। हाँ, हमारे यहाँ चाय, कॉफी का चलन नहीं था। दूध-मटठा चलता था, पर अब इन नये पेयों की लत पड़ गयी।

अब आये फलाहार व्रत की ओर। इसकी लम्बी फेहरिस्त है- इनमें कुछ अन्न हैं, फल हैं, मेवे हैं, मिठाईयाँ हैं। इनकी चर्चा भी स्वादिष्ट है। उपानों में सबसे महत्वपूर्ण है- 'कूटू' इसका चावल बनता है। इसके आटे के पराठे बनते हैं, कढ़ी और पकौड़े बनते हैं दूसरा है साँवाँ। इसकी खीर बड़ी मस्त होती है। साबूदाना की खिचड़ी, खीर (मीठी) और नमकीन साबूदाना भी अच्छा होता है। साबूदाने की पापड़ तो बड़े ही लोकप्रिय हैं। एक बढ़िया उपान है 'रामदाना'। सबसे सस्ते लड्डू इसी के बनते हैं। व्रत में रामदाना और दूध का संयोग अच्छा बनता है।

एक जलीय फल है सिंघाड़ा। इसे कच्चा खाये चाहे छौंक के खाये अच्छा लगेगा। सूखे सिंघाड़े आटे से जलेबी, पकौड़ी, हलवा आदि बनाते हैं। एक और जलीय उत्पाद है 'कमलगट्टा' इसका हलवा सभी अन्य फरारी हलवा से ऊपर होता है। ऐसे ही मखाना तलकर खाये या खीर बनाये, मजा आ जायेगा। उपानों में त्रिकुट, तिन्नी आदि की भी खीर, हलवा, जलेबी आदि बनते हैं।

खाने के साथ चटनी-आचार तो चाहिये ही। एक महत्वपूर्ण निर्णय है कि व्रत में समुद्री नमक नहीं खाते, सेंधा नमक (साँभर झील का) या 'राकसॉल्ट' का ही प्रयोग करते हैं। सलाद में

छुहारा, किशमिश, अदरक का मिश्रण कमरख, खीरे के लच्छे, फलों का सलाद चलता है। धनिया नहीं खाते। मसाले वर्जित हैं। अतः हल्दी, जीरा आदि नहीं लेते हैं। हरी मिर्च और अदरक चलता है। चटनी बनानी हो तो मकोय की चटनी (मौसम हो तो) बनाये, नहीं तो फरारी नींबू का अचार बढ़िया होता है। नींबू के रस में नींबू के टुकड़े अदरक और सेंधा नमक मिलाकर चाहें तो हरी मिर्च के टुकड़े डालकर धूप में रखें, जब नींबू का छिलका गल जाय तो इस्तेमाल करें। यह अचार बरसों चलता है और रोगी को भी दिया जा सकता है। यह सड़े नहीं, इसलिये नमक अधिक डालना चाहिये।

अब आये भूमि से प्राप्त होने वाले कंद-मूल पर। आलू है तो परदेसी, पर अब हर दिल अजीब हो गया है। बनारस के आलू के पापड़ तो सर्वत्र विख्यात हैं। व्रत के दिन नाश्ते में आलू के पापड़ ले सकते हैं, पर ध्यान रहे चिप्स नहीं चलेगी। हाँ आलू की सेव, जालीदार पापड़ मिलते हैं। आलू उबालकर, तलकर, भूनकर खा सकते हैं। आलू के पराठे बढ़िया बनते हैं (चिल्ले की तरह)। एक और फरारी कंद है- कन्दा या शकरकन्द। भूनके खाइये, भूल न पायेंगे इसका स्वाद। अन्य कंद जैसे-सूरन, रसालू आदि भी खाते हैं। अरबी (अरुई) भी खूब खायी जाती है। अत्यंत लोकप्रिय है- मूँगफली। मूँगफली आप घण्टों टूँग सकते हैं। एक बात याद रहे कि मूँगफली बहुत गरिष्ठ होती है।

मिठाई में ध्यान रखें-फरारी और अनाजी दोनों तरह की बनती हैं। तिन्नी, त्रिकुट और सिंघाड़े की जलेबी, खोए की बरफी- पेड़ा चलेगा। गुलाबजामुन, रसगुल्ला भी फरारी हो रहे हैं। एक मिठाई है फेनी, जो तीज के अगले दिन संवई-जैसी ही लोकप्रिय है। मेवों में किशकिश, काजू, बादाम, मुनक्का, छुहारा, खजूर, गरी, अखरोट आदि आते हैं। मुनक्का भूनकर तो रोगी को भी देते हैं।

फलों को प्रमुखता मिलती है। इनका राजा है आम और दीर्घकालिक फल है केला। इसका तो जवाब ही नहीं। यदि दूध-केला खा लें तो पेट भर जायेगा। केले की चिप्स भी बना सकते हैं। प्रसाद में केला मुख्य है। अन्य फल हैं - सेब, नाशपाती, नींबू, संतरा, मुसम्बी, अंगूर, अमरूद आदि।

सब्जी में कुम्हड़ा, ककड़ी, मूली, कददू आदि खा सकते

हैं। कुम्हड़े का पाक बढ़िया मिठाई है। हरा चना, मटर आदि दाल हैं अस्तु, नहीं लेते और प्याज, लहसुन, टमाटर आदि तो यों ही वर्जित हैं।

सर्वोत्तम है पञ्चामृत-दूध, घी, शहद, चीनी और दही का मिश्रित पेय। संसार का कोई भी पेय इसकी बराबरी नहीं कर सकता। व्रत में सर्वाधिक प्रशस्त आहार गाय का दूध है। दही, मट्ठा और छाछ का अपना मजा है। सफेद चीनी के बदले मिश्री अधिक फरारी है। सच्चे अर्थों में व्रत में यदि खाना ही है तो कन्दमूल-फल और दूध सर्वोत्तम है।

एक विशेष बात है और इस पर वैज्ञानिकों को अनुसंधान करना चाहिये कि हमारे यहाँ व्रतों, त्योहारों और उत्सवों में विशेष आहार का विधान है। आज कुम्हड़ा चाहिये, आज दूध-बताशा लें, आज खिचड़ी संक्रान्ति है- तो तिल, गुड़ खायें, सत्तू खायें, सिलोटा लें (नागपंचमी), शीतलापूजन है तो बासी खायें, गुड़ के गुलगुले आरोंगे। आज आँवले का दिन है, बेल का शरबत या मुरब्बा लें। अमरूद, बड़हल, लीची, फालसा, खिरनी, सहजन की फली, अगस्त के फूल, कचनार, करेला, नीम, मीठी नीम आदि खाने की परम्परा है। हमारे देश में इतने फल-फूल, कंदमूल और मसाले होते हैं कि लिखने बैठें तो एक पूरा शब्दकोश बन

जाय। अरे भाई! केसर, कस्तूरी, गुलाब और केवड़े का देश है यह।

हाँ, तो अनुसन्धान यह करना है कि यदि कोई आस्था सहित सभी व्रत-त्योहारी विधि-विधान से करता है तो क्या उसके शरीर में विटामिन 'सी' या खनिज की कमी हो सकती है? क्योंकि इस देश में आहार भरपेट नहीं मिलता, फिर भी आहार के तत्त्वों की कमी के रोग बहुत कम होते हैं। विदेश में सूक्ष्म खनिजों की कमी से उत्पन्न रोगों की काफी चर्चा है, पर यहाँ ये कम ही होते हैं।

आज जिन ऋषियों ने इन व्रतों में आहार का यह विधान बताया उन्हें नमस्कार करके नेत्र पर तुलसी युक्त चरणामृत लगाकर धन्य होते हैं।

हमारी राय में व्रत करना ही है तो निराहार करना चाहिये, इससे तन-मन शुद्ध होता है। पाचन तंत्र को विश्राम मिलता है। यदि यह सम्भव न हो तो अल्पाहार में मिर्च मसाला रहित, अधिक घी-तेल के बिना, सादा भोजन वह भी सीमित मात्रा में लें। इसे सात्त्विक भोजन कह सकते हैं। व्रत और राजसिक (गरिष्ठ) या तामसिक भोजन का कोई तुक नहीं बैठता। व्रत के समय ब्राह्मण को 'सीधा' देते हैं। वह भी सादा होना चाहिये।

बघेली का लोक सौन्दर्य

प्रो. सेवाराम त्रिपाठी

मैं असभ्य हूँ क्योंकि खुले नंगे पाँवों चलता ।
मैं असभ्य हूँ क्योंकि धूल की गोदी में पलता ॥
मैं असभ्य हूँ क्योंकि चीर कर धरती धान उगाता ।
मैं असभ्य हूँ क्योंकि ढोल पर बहुत जोर से गाता ॥
मैं असभ्य हूँ क्योंकि कात कर स्वयं बनाता कपड़े ।
मैं असभ्य हूँ क्योंकि नहीं हैं पैसे मेरे जबड़े ॥

- भवानी प्रसाद मिश्र

क्या लोक ऐसा ही है जैसा भवानी भाई ने अपनी कविता में कहना चाहा है अथवा इसका कोई और रूप है? लोक के साथ चलना, उसके अनुरूप ढलना, रहना, समूचे काम करना, मेरी समझ में अब बहुत कठिन हो गया है। आधुनिकता ने बहुत सारी चीजें बदल दी हैं। हालांकि मोटे तौर पर गाँव समाज के पिछड़ेपन को, उनके विश्वासों को ही लोक के रूप में स्वीकार करने की रूढ़ि पनप रही है। डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार- 'लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना और पाण्डित्य के अहंकार से शून्य है, और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं, वे लोक तत्त्व कहलाते हैं।' (हिन्दी साहित्य कोश-भाग-1, पृष्ठ 747)

‘लोक’ बहुत व्यापक संदर्भों और आयामों में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। उसके भीतर शहरी, ग्रामीण, वनवासी, अन्त्यज या अन्य किसी स्थल में रहने वालों से उसका व्यापक और प्रगाढ़ रिश्ता है। लोक निराला है, उसके अंदाज निराले हैं। यह लोक परिभाषाओं से नहीं जाना-पहचाना जा सकता। क्योंकि लोक के भीतर सब कुछ समाहित है। ‘लोक’ शब्द लोक धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना। अर्थात् जितना हम देख सकते हैं, समझ सकते हैं, पहचान सकते हैं या देख सकने की क्षमता रखते हैं—वही हमारा लोक है। सूर्य को ‘लोक लोचन’ कहा जाता है। वह क्या नहीं देखता? सब कुछ देखने की सामर्थ्य है उसमें। भारतीय परम्परा में राम लोक रक्षक और कृष्ण लोक रंजक के रूप में पहचाने गये। हमारा समूचा साहित्य और तमाम कलायें उनका बखान करते हैं। एक मर्यादा पुरुषोत्तम हैं तो दूसरे लीला पुरुषोत्तम।

लोक के बारे में एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में कहा गया है कि ‘आदिम समाज में उसके सभी सदस्य लोक (फोक) होते हैं और इस शब्द के विस्तृत अर्थ को लें तो सभ्य राष्ट्र की पूरी जनसंख्या को लोक की संज्ञा दी जा सकती है।’ यह लोक शब्द का व्यापक अर्थ है। लोक अपने अंदर सब कुछ जड़ कर लेता है। कुछ भी लोक के बाहर नहीं है। हम नैतिक हैं तो इसी कारण कि हमें लोक का भय है। लोक लज्जा हमें मानवीय भी बनाती है। लोक के कारण ही हम न चाहते हुये भी बहुत सारे कर्मकाण्ड अपनी हैसियत से बाहर जाकर करने को विवश होते हैं। लोक के भय ने ही राम को सीता निर्वासन के लिये मजबूर किया। लोक मानस की अभिव्यक्तियाँ हमारे जीवन में कई रूपों में दर्ज होती हैं। बोली, भाषा, अभिनय, आंगिक क्रियायें, नृत्य, कूची के रंग, संगीत, मिथक, चित्र, मूर्तिकला, स्थापत्य कला और अन्य कलायें उसी लोक मानस से निःसृत होती हैं, जिससे समूचा संसार चलता है।

दूसरा प्रश्न है कि सौन्दर्य क्या है? हर कालखण्ड में सौन्दर्य को देखने-परखने के पैमाने रहे हैं, लेकिन कोई भी पैमाना कभी भी सौन्दर्य को ठीक-ठीक परिभाषित नहीं कर सका। यह उसी तरह है, ‘ज्यों ज्यों निहारिये नीके है नैननि, त्यों त्यों खरी सी निकरै निकाई’ या यूँ कहें कि सौन्दर्य जटिल और उलझा हुआ प्रश्न है, जिसका उत्तर वैज्ञानिक ढंग से देना बहुत मुश्किल है। सौन्दर्य पर तुलसी ने लिखा— ‘सुंदरता कहं सुंदर करई/ छवि गृह दीप शिखा

जनु बरई’। ‘थके नयन रघुवर छवि देखी/पलक नहुँ पर हरी निमेषी।’ एक शायर ने तो यहाँ तक कह डाला—

हुश्रन वालों से कह दो न गुजरें इधर से,
देखने वालों का ईमान चला जाता है।

सुंदर चीजों को देखकर मनुष्य प्रसन्न होता है, उसे अच्छा लगता है। उसे मजा भी आता है। वह उन्हें निरंतर देखते रहना चाहता है। यह चाहत इसी लोक की है, सौन्दर्य देखने वालों की आँखों में होता है, वस्तु में नहीं। शेक्सपियर की इस अवधारणा की परीक्षा करने से एक संकट यह पैदा हो सकता है कि वस्तुगत सौन्दर्य मानो है ही नहीं। लेकिन सुंदर तो आखिर सुन्दर है ही उसे आप झुठला नहीं सकते। सुन्दर वस्तु में चुम्बकीय खिंचाव होता है। एक सम्मोहन होता है एक तरह का आकर्षण भी। हालांकि सौन्दर्य हमेशा सापेक्ष होता है वह न तो निरपेक्ष है और न उसकी कोई अलग पहचान है। समय और परिस्थिति उसे संदर्भवान एवं मूल्यवान और अर्थवान बनाते हैं। सौन्दर्य आंशिक रूप से वस्तु में होता है, आंशिक रूप से दृष्टा के मस्तिष्क में और दोनों का परस्पर सामंजस्य ही व्यक्ति को सौन्दर्य की सुखद अनुभूति कराता है।

लोक और सौन्दर्य के बारे में बातें करते हुये ‘लोक सौन्दर्य’ की परिधि व्याप्ति और उसकी पहचान को देखने-सुनने के अपने तत्त्वार्थ हैं। समूचे लोक में जो सौन्दर्य है, उसे किस रूप में रखा जाए। भारत की भौगोलिक सीमाओं में फिर हिन्दी भाषा-भाषी समूहों एवं अंचलों में हम लोक के, लोक की विविध छवियों को चीन्हते और पहचानते आये हैं। लोक के सौन्दर्य की छवियाँ, छटायें और उसकी वस्तुगत सत्ता के विभिन्न कोण हैं। बघेली भाषा-भाषी समाज कोई इकहरा समाज नहीं है। आज का समाज भी नहीं है। वह परिभाषित चाहे तेरहवी-चौदहवीं शताब्दी में हुआ हो, लेकिन उसकी हैसियत हमेशा रही है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा— ‘भारतीय जनता का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिये पुराने परिचित ग्राम गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। केवल पण्डितों द्वारा प्रदर्शित काव्य परम्परा का अनुशीलन ही अहम नहीं है।जब-जब शिष्टों का काव्य पण्डितों द्वारा बंधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा। तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच

स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा के जीवन तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

आचार्य शुक्ल लोक साहित्य के अध्ययन एवं उसकी उपयोगिता को पहचानते थे। लोक साहित्य शिष्ट साहित्य को ताकत देता है। लोक है तो शिष्ट है। जैसे शास्त्रीय संगीत को इस रूप में ढालने वाला लोक संगीत ही होता है। लोक परम्परायें-वाचिक से लिखित तक की यात्रा करती हैं। लोकगीतों में लोक तत्त्वों की सघनता होती है, जिसमें लोक जीवन की भाषा लोक जीवन के विश्वास-आस्थाएँ, रीतियाँ-नीतियाँ, लोक परम्परायें, लोक बोलियाँ, लोक शैलियाँ, लोक वाद्यों की सघनता का उपयोग ऐसे कई रूपक हैं। लोक के अनेक पक्ष हैं। मनुष्य का लोक से बड़ा सघन एवं प्रभावी रिश्ता है। सिद्धांत अलग होते हैं और उसका व्यवहार पक्ष अलग होता है। सिद्धांत कोने में बैठे रह जाते हैं और व्यवहार जीवन की जंग को जीत लेते हैं। अब जो समाज ढल रहा है। कुछ संशय- कुछ ऊहापोह में सामाजिक मान-मर्यादाओं का पालन करते हुये जीवन जीना कठिन है। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार इन्हें तोड़ना भी पड़ता है, अन्यथा हमारा जीवन मशीन हो जायेगा। लोक कलायें जीवन से निकलती हैं। श्रम से-पसीने से अपना रूप संवारी हैं। सहजता इनका गुण है। हमारे लोक के विविध रूप हैं-लोक साहित्य, लोक गीत, लोक नृत्य, लोक गाथा, लोक उक्ति, लोक नाट्य, लोक रीति, लोक वार्ता, लोक रंग, लोक उत्सव, लोक संगीत, लोक कला, लोक व्यवहार, लोक व्यंजन आदि। कहा जाता है कि कोई चीज आपको चाहे जितनी अच्छी लगती हो, यदि यह लोक विरुद्ध है तो उसे नहीं करना चाहिए। 'यद्यपि शुद्ध लोक विरुद्ध ना करणीयम/ ना करणीयम'। लोक जीवन का यथार्थ लोक गीतों और लोककथाओं में रचा बसा होता है। लोक जीवन की झांकियाँ देखनी हैं तो लोक चित्रों में, लोक मिथकों में और लोक विश्वासों में देखिये। एक समय का निष्कलुष जीवन लोक से विदा ले रहा है। उसके स्थान पर छल प्रपंच और कपटाचरण बढ़ रहे हैं। एक तरह का दिखावा उपस्थित हो गया है। कृत्रिमतायें छा रही हैं।

बघेली का लोक और उसमें प्रचलित मान्यतायें असंख्य हैं। किस्म-किस्म के लोक विश्वास बघेली अंचल में विद्यमान हैं। तरह-तरह की प्रथायें विराजमान हैं और उस पर निरंतर कार्यवाहियाँ हो रही हैं। मोटे तौर पर लोक के दो रूपों को हम देखें। एक है

हमारी वाचिक परम्परा और दूसरी है अवाचिक अथवा लैखिक परम्परा।

एक लोकगीत में एक नायिका के प्रेम की मार्मिक अनुभूति का चित्रण है-

कहउं होतिउं बदरिया घुमड़ि रहतिउं
पिया पिआरे के अंगना बरसि परतेउं
जो मैं होतिउं लइंची केर बिरवा
राजा पिआरे के मुंह मां गमकि रहतेउं
जो मैं होतिउं मोती केर बिरवा
पिया पिआरे के छतियां लपकि रहतेउं।

पुत्रजन्म के बारहवें दिन कुआँ पूजने का रिवाज है। स्त्रियाँ बरहों के दिन गाती हुई कुँए तक जाती हैं और कुँए की पूजा करती हैं। यह मान्यता है कि यदि जच्चा स्तन से दो तीन बूंद निचोड़कर कुआँ में डाल देती है तो बच्चे के लिये दूध कभी कम नहीं होता।

जल भरउं हिलोर-हिलोर, रेसम की डोरिया
रेसम केर डोरिया तब निक लगई, जब सोने घइलना होइ
सोने घइलना तब निक लगई जब रूपेन गगरिया होइ
रूपेन गगरिया तब निक लगई, जब कोरा बलकवा होइ।

लड़की के विदाई गीत बहुत मार्मिक होते हैं। इनमें करुणा का ऐसा भाव होता है कि देखते ही बनता है। लड़की की विदा हो रही है, यह बहुत भावुक क्षण है। सबकी आँखें भीग-भीग जाती हैं। इस अवसर पर लड़की कहाँ से कहती है। जैसे- 'निमिया तरी डोली धरि दे कहरवा/ देखि लेउँ नइहरिया के लोग/माया के रोये नदिया बहुत है/बपवा के रोये तलाब रे / भइया के रोये मोरी छतियां फटति हइ/ बहिनी चली हइ परदेश।'

बघेली लोक गीतों का संसार अनोखा है। उदाहरण के लिये इस गीत की कुछ पंक्तियाँ बेहद अच्छी हैं। उत्कंठित प्रिया अपने प्रिय को संदेश भेजती है कि- 'मेरे छैल, पृथ्वी का वाहन, बादल का ओहार और चन्द्रमा की बेंदी बनाकर मुझे लेने आओ तो, मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।' पहुमी का म्याना बनावा छयल/बदरे केर ओहार/चंदा के बेंदी मंगावा/ गमने हम जाब।'।

बघेली लोक में लोकगीतों की बहुत समृद्ध परम्परा है। बघेली लोकगीतों का संचयन लखन प्रताप सिंह 'उरगेश', भगवती

प्रसाद शुक्ल ने प्रमुखता से किया था। शनैः-शनैः कुछ और लोग भी इस क्षेत्र में आगे आ रहे हैं। लोकगीतों में संस्कार गीत, ऋतु पर्वों के गीत, भक्ति गीत, आदिवासियों के गीत गाये जाते हैं। दरअसल लोकगीत लोकमन में हैं और गायकों के हृदयों में विराजते हैं और श्रोताओं के मन-मस्तिष्क और जीवन में नये भावलोक का संचरण करते हैं। लोक में कई तरह के विश्वास हैं। कभी-कभी लगता है कि इन विश्वासों को किसने रचा होगा? इनके कभी भी खुलासे नहीं होते। जैसे बच्चों की वर्षगांठ पर पूरे आँगन में कौंडर डालना। कौंडर यानी आटे के बड़े-बड़े गोल-गोल छल्ले। सोचा जाये कि कौंडर डालने से क्या नफा होगा और क्या नुकसान होगा। विवाह के बाद नवदम्पति हल्दी चावल के घोल से हत्था (हाथों के पंजों की छाप) लगाते हैं। इनके लगाने से क्या फायदे हैं और न लगाने से क्या नुकसान है। लेकिन अनेक शताब्दियों से समाज में ऐसा होता आ रहा है। माटी मांगर, खम्बा, लावा, चूल्हा, लोढ़ा, मूसल, सिल सूपा-दौरी इन सबका क्या इस्तेमाल है, क्या कभी किसी ने इन पर प्रश्न पूछा? लेकिन पढ़े-लिखे समाजों में भी इस पर प्रश्न करने के रिवाज प्रायः नहीं है। हाँ, बच्चे जरूर ऐसे प्रश्न पूछते हैं लेकिन ठीक-ठीक उत्तर शायद किसी के पास नहीं हैं। इनकी वैज्ञानिकता क्या है। पलाश (छूला) या ऊमर (गूलर) की लकड़ी या बाँस के उपयोग पर शायद कोई प्रश्न चिन्ह नहीं है।

बघेली के संस्कार गीत

भारतीय सभ्यता और संस्कृति में हमारी मान्यतायें जीवन की समस्याओं को कई तरह से व्यक्त करती रही हैं। हमारी संस्कृति स्वयं विविधताओं के केन्द्र में है। हमारे कहने, सोचने और करने में संस्कृति के मूलभूत प्रश्नों को अनेक बार कई तरह से सोचा विचार और उसे अंतिम परिणति तक पहुँचाया जाता है। संस्कृति में कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनमें दृढ़ता है और कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनमें लचीलापन है। यह सब कुछ समय, परिस्थिति और स्थितियों के संदर्भ में है। कभी हरे बाँस की तरह हम होते हैं और कभी सूखी लकड़ी की तरह। हरा बाँस आवश्यकतानुसार लचीला हो जाता है और झुक जाता है, जबकि सूखी लकड़ी टूट जाती है। संस्कारों में हमारी मान्यतायें हैं। हमारी जीवनेच्छा और लोकधर्मिता होती है, तरह-तरह की गणित है, लेकिन इन संस्कारों में हमारे सांसों की धड़कन है। हमारे जीवन राग हैं। हमारी आत्मिक छवियाँ हैं। संस्कार हमें मुक्त भी करते हैं और कभी-कभी बंधनों में बांध भी

लेते हैं। हमारी उन्मुक्तता और बंधनशीलता सामाजिक रुचियों के परिपालन में है।

मानव जीवन में संस्कारों का महत्त्व हमेशा रहा है। संस्कार मानव के पूरे जीवन वृत्त को विभिन्न आयामों में सजाते-संवारते एवं रेखांकित करते हैं। संस्कार मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित करते हुये जीवन की दिशा का निर्धारण भी करते हैं। इन पर देश काल, राजनीति, खान-पान रूढ़ियों, परम्पराओं एवं हमारी भौतिक जरूरतों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। किसी देश, प्रदेश, क्षेत्र एवं अंचल की भाषा और वहाँ की संस्कृति उसके संस्कारों को निर्धारित, स्थापित एवं व्याख्यायित करती है। संस्कृति के इस निर्धारण में धर्म, परम्परायें और रूढ़ियाँ भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। लोक रुचियों का अनंत प्रवाह और लोक मान्यताओं के अनेक क्षितिज भी होते हैं। बघेलखण्ड अंचल की बोली बघेली है, जिसके अंतरंग में इस क्षेत्र की मिट्टी की महक, रियासतों की पूर्व से प्रचलित आम भाषा, जनजातीय समाज में प्रचलित भाषा तथा भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार मिश्रण से बनी भाषा का योगदान रहता है। बघेली लोक साहित्य में प्रचलित संस्कारों को गीत-संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इन्हें विभिन्न अवसरों पर गाया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि जिन सोलह संस्कारों की हम गणना करते हैं। मसलन- गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जात कर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशांत, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। दरअसल संस्कार मनुष्य को संस्कारित करने और पवित्र बनाने की प्रक्रिया का एक अंदाज है। इसमें मानव जाति का अनुशासित, कल्याणमय एवं सुरक्षित जीवन समाहित है। आदर्श समाज के निर्माण और विकास में संस्कारों की महती भूमिका प्राचीन समय में हुआ करती थी। संस्कारों को सम्पन्न करने की विधियाँ, रीति-रिवाज और परम्परायें भिन्न हो सकती हैं। इनमें देशकाल के प्रभाव भी होते हैं। ऐसी मान्यता है कि मनुष्य के सामाजिक आध्यात्मिक विकास के लिए संस्कार अनिवार्य हैं। इस पर मत-मतांतर हो सकते हैं, क्योंकि इस समय सामाजिक परिवर्तन की हवायें बहुत तेज हैं।

संस्कारों को यदि पवित्रताओं से जोड़ेंगे तो दूसरी समस्यायें पैदा होंगी। ये संस्कार उस वक्त भी जरूरतों के आइने जरूर रहे होंगे। जब उनकी बेहद उपयोगिता रही है, क्योंकि उस दौर में

नैतिक मूल्यों का महत्त्व होता था। प्रश्न है कि क्या संस्कारों में परिवर्तन अब नहीं होंगे। शहरों में कुँए ही नहीं बचे तो उस कुआँ पूजन का क्या होगा? जिसे पुत्र जन्म के पश्चात् जच्चा बारहवें दिन पूजती है और यह प्रसिद्ध गीत लोक में प्रचलित है- 'जल भरउं हिलोर-हिलोर रेसम की डोरिया।' स्त्री शिक्षा के महत्त्व के दौर में- हमारे संस्कार गीतों से अलग कर दी गई स्त्री आवाज को क्या जगह नहीं मिलेगी, नहीं थी जगह तो अब मिलनी चाहिए और यदि ऐसा नहीं होगा तो संस्कार कितने दिनों तक कर्मकाण्ड की तरह ढोये जाते रहेंगे। सोलह संस्कारों में से अब ज्यादातर काल कवलित हो चुके हैं। बघेली अंचल में गाहे-बगाहे केवल पाँच-छः प्रकार के संस्कार बचे हैं। जन्म, मुण्डन, कन्छेदन, जनेऊ, विवाह और मृत्यु। मृत्यु पर प्रायः लोकगीत नहीं गाये जाते। केवल मण्डला और अमरकंटक के आसपास गोंड जाति के लोग मृत्यु के तेरहवें दिन गीत गाते हैं और यहाँ भी मृत्यु का कोई गीत नहीं होता। इस अवसर पर लोकजीवन से जुड़ा ददरिया गाया जाता है। बघेली संस्कार गीतों में (मृत्यु को छोड़कर) हमारे हर्ष, सुख, उल्लास, आनंद, मस्ती और प्रसन्नतायें प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। ये संस्कार इस अंचल के जीवन उत्सव के रूप में पहचाने जाते रहे हैं। इन संस्कारों ने अपने निर्माण में कई तरह के मिथकों, विश्वासों, रूढ़ियों और परम्पराओं की यात्रा की है। तब ये इस रूप में अस्तित्व में आये हैं। जाहिर है कि ये संस्कार उल्लास के रूप में हों, इन्हें कर्मकाण्ड से दूर रखा जाए, तभी इनका असली महत्त्व होगा और इनकी अमिट पहचान बनी रह सकती है।

संस्कार तो अनेक हैं। जन्म के पूर्व से लेकर मरण तक। आधुनिकताओं ने इस दौर में कुछ संस्कारों को रस्मी या प्रतीकीकृत कर दिया है, अर्थात् एक तरह की रस्म अदायगी। विद्यारम्भ या 'पाटीपूजा' तक अब संस्कारों की तरह नहीं होता। अब कहीं-कहीं तो रस्म भी नहीं होती। जैसा तुलसी ने राम की समूची पढ़ाई के लिये लिखा था- 'गुरु गृह गये पढ़न रघुराई/अल्पकाल सब विद्या पाई।' इस दौर में सब जल्दी-जल्दी निपटा दिया जाता है। उसी तरह देखते-देखते व्रतबंध या बरुआ अथवा उपनयन संस्कार भी रस्म अदायगी में निपट रहा है। कुछ ने अपने रूप बदल लिये हैं। 'गोद भराई' ने नई शकल अख्तियार कर ली है। और यह खाये, पिये और अघाये लोगों के एक संभ्रांत किस्म के उत्सव के रूप में पहचाना जाने लगा है। मेरे देखते-देखते शादी या विवाह संस्कार

भी निरंतर छोटा होता जा रहा है। इस अवसर पर गाये जाने वाले लोकगीत भी कई तरह के तिलिस्मों के शिकार हुये हैं। जन्म एवं विवाह संस्कार एक मायने में बड़े संस्कार हैं। इनके अंतर्गत कई तरह की व्यवस्थायें हैं। जन्म संस्कार भी लंबा खिंचता है। इस संस्कार का उत्सव भी पूरे समाज को घेरता है। लेकिन प्रधानता पुत्र की ही है। पुत्रियाँ अभी भी बहुत पीछे हैं। विवाह संस्कार में वर पक्ष और कन्या पक्ष की ओर से कई तरह की रस्में हैं। और इन रस्मों के मानने में कई तरह के लोकगीत गाये जाते हैं। बनरा, बनरी, सोहाग, मण्डप डालना, मातृका पूजन, निकासी, परछन, पियरी चढ़ाना, अंजुरी भरना, भाँवर, चढ़ाव, भोजन करते वक्त की गारी गाना, द्वारचार, डोला मुंदाई, पैपखरी आदि। इन सभी अवसरों पर लोकगीत गाने का रिवाज था। अभी भी जहाँ जानकारी है, वहाँ ये प्रचुर मात्रा में गाये जाते हैं। जहाँ जानकारी नहीं है, वहाँ फिल्मी गीत गाये जाते हैं या गाने के नाम पर कोई भी गीत गाये जा रहे हैं। जाहिर है कि संस्कार गीत केवल बघेली अंचल भर में नहीं गाये जाते। बुंदेली, मालवी, अवधी, ब्रजी, छत्तीसगढ़ी अर्थात् हिन्दी भाषा भाषी अंचलों के बाहर पूरे हिन्दुस्तान में अपने रिवाजों के अनुरूप संस्कार गीतों में अपनी मान्यताओं, विश्वासों की अमिट छवियाँ हैं, जिन्हें पुनर्स्थापित करने जीवंतता देने और मानव जीवन में अंगीकार करने हेतु नये सिरे से विचार-विमर्श की आवश्यकता है। संस्कार गीत भी यद्यपि आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, बाजार तथा मीडिया से प्रभावित हो रहे हैं, फिर भी वे हमारी सांसों की सरगम के साथ हैं। हमारी मान्यताओं, हमारे रिवाजों के अनुसार प्रचलित, रूपायित और व्याख्यायित होते हैं। हमारी आत्मा में, हमारी सांसों में और हमारे विश्वासों में समाये हुये हैं। कुछ लोकगीतों के नमूने प्रस्तुत हैं-

हरे बांस मण्डप छाये सियाजू का ब्याहन राम जी आये

यह लोकगीत विवाह के अवसर का है।

*अंगना में हरी-हरी दूबा घिनौंचिन केवड़े महाराज
पहले-पहर को सपना सुनो मोरी सास जू महाराज
रामालखन दोऊ भइया अंगन मोरे खेलते महाराज।
दूजे पहर को सपना सुनों मोरी जैठानी जू महाराज
चंदा सुरज दोऊ भइया अंगन मोरे ऊ रये महाराज
तीजे पहर को सपना सुनो मोरी देवरानी जू महाराज*

गंगा जमुन दोऊ बहनें अंगन मोरे बह रई महाराज
चौथे पहर को सपना सुनो मोरी ननद जू महाराज!
बड़े भुनसारे ललन मोरे अंगना दुमक रये जू महाराज।

यह लोकगीत प्रसव पीड़ा के दौरान देखे गये सपने से संबंधित है। यह बुंदेलखण्ड में गाया जाता है।

संस्कार गीतों में हम उन भाव स्थितियों-भाव सरणियों को मुखर करते हैं, जिनका गहरा रिश्ता हमारे जीवन से है। लोकगीतों में निश्चित रूप से लोक तत्त्वों की सघनता होती है, जिसमें लोकजीवन की भाषा, लोक समाज और लोक परिवेश की पहचान अंकित होती है। बघेली संस्कार गीत समूचे बघेलखण्ड में प्रचलित हैं और वे हमारे सामाजिक सांस्कृतिक सरोकारों की विस्तृत व्याख्या भी करते हैं। इनका वर्गीकरण लोक रीति, लोक परंपराओं के अपने भीतर संजोने, धारण करने तथा क्रियान्वयन से संभव होता है। संस्कार गीत हमेशा स्त्रियाँ ही गाती हैं। वह भी अकेले नहीं वरन् समूह में। पुरुष समाज केवल देखता है, शामिल होता है। आनंद लेता है। ये गीत अक्सर लोकाचार के समय अथवा पुरोहितों द्वारा संस्कार सम्पन्न कराने के दौर में ही गाये जाते हैं।

जन्म संबंधी संस्कार बच्चा पैदा होने के पूर्व आठवें महीने से प्रारंभ होता है। बघेली अंचल में आठवें महीने के अवसर को 'कोरा पुजाई' के रूप में जाना जाता है। कोरा पुजाई में गर्भधारण करने वाली स्त्री को पति के साथ चौक में बिठाया जाता है और पण्डित पूजा कराते हैं, जिसकी मूल भावना बच्चे के कल्याण से संबंधित है। जन्म के छठवें दिन छठी का उत्सव होता है। जन्म के बारहवें या तेरहवें दिन बरही मनाया जाता है। इसे बरहों भी कहते हैं। पहले बैण्ड या ढपला बजते थे और स्त्रियाँ नृत्य करती थीं। अभी भी विधिवत् पूजा होती है। उत्सव होता है। सामूहिक भोज सम्पन्न होते हैं, जन्म के दिन से बारहवें दिन तक लगातार सोहर गाये जाते हैं। बाहरवें दिन ननद चंगेरी सजाती है और पूरा स्त्रियों का समूह जुलूस की शकल में चलता है सोहर गाते हुये। जच्चा की ओर से ननद, सास, जेठानी और देवर को नेग देने के रिवाज हैं। पीपर पिसाई, सोबर पोतना, हल्दी पीसना, पीड़ा बांधना, गागर उतरवाई आदि परम्परा है। आश्चर्य है कि जन्मोत्सव केवल लड़के का मनाने का रिवाज है। लड़कियों के जन्म पर प्रायः उत्सव नहीं होते। हाँ इस दौर में कुछ परिवर्तन अवश्य हुये हैं। कुछ लोगों द्वारा

लड़की के जन्म पर भी भोज दिया जाने लगा है। यह केवल पढ़े-लिखे और विकसित समाजों तक सीमित है। जरूरत इस बात की है कि अब हमारे समाज का मनोविज्ञान बदले और लड़का-लड़की में कोई भेद न किया जाए। हमारी सामाजिक स्थितियों में अभी भी व्यापक परिवर्तन नहीं हुये। उन स्त्रियों को व्यंग्य वाणों से अभी भी बाँधा जाता है जो बाँझ है या जिनके केवल बेटियाँ होती हैं। सोहर गीतों में सभी प्रकार के चित्र मिल जायेंगे। डॉ. भगवती प्रसाद शुक्ल के शब्दों में- 'बघेली की सोहरों में पुत्र के अभाव की वेदना की विकलता कम है, बन्ध्या होने के कलंक की विकलता अधिक। बघेलखण्ड की निपुत्री नारी से न कोई मुँह भर बात करता और न किसी मांगलिक कार्य में उसका प्रवेश उचित मानता है। बात-बात में उसे ताने सुनने पड़ते हैं, अपमान सहना पड़ता है।'

(बघेली भाषा और साहित्य, पृ.-94)

बाँझ स्त्री की वेदना का एक चित्र देखें- 'एक फूल फूलइ अजुधिया, दुसर फूल मथुरा हो/तीजे फूल फूलइ हो काशी, चउथ मोरे अंचरा हो/अंचरा बिछाइ पइयां लगतेऊं अरज कछु करतेऊं, हो/कोहू का दिहे दुई चार, कोहू का दस पांच हो/कोहू का राखे ललचाइ, त एक ललन बिनु हो/अमवा त फरा है गउदबन, अमिली झपक बन हो/रामा तिरया का राखे ललचाइ, त एक ललन बिनु हो।' प्राचीन समयों में बाँझ स्त्री और बेटे वाली स्त्रियों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता था। ये जकड़बन्दियाँ अभी भी हैं। असंख्य सोहर गीतों में इसे चित्रित किया गया है। कुछ ऐसे भी लोकगीत हैं, जिनमें हमारी प्रसन्नता को व्यक्त किया गया है

(अब) सासु अंगना लिपावा, चउक भरावा हो।

(अब) हम पुजबइ बरहिया, बिरन भइया आये हो।

(ब) बाजें लागीं अनंद बधैया गामइं सखि सोहर हो।

जन्म के बाद मुण्डन-कन्छेदन संस्कार भी होते हैं। पर इनकी समय सीमा केवल एक दिन की ही है। और आज के दौर में तो लोगों का ध्यान भी इन संस्कारों के प्रति प्रायः नहीं है। ध्यान भी है तो समय नहीं है। मुण्डन एक से लेकर तीन वर्ष तक प्रायः होते हैं। बघेलखण्ड में पहली बार सिर मूड़ने को मुण्डन कहते हैं और बालों को झालर। बालों का मुण्डन होता है, तो उस झालर को प्रायः फूफू (बुआ) लेती है। मुण्डन संस्कार तीर्थ स्थानों में कराने

का रिवाज है। मुण्डन बुआ की गोद में होता है, तो उसे शुभ माना जाता है। जैसे-जैसे झालरें (बाल) गिरती हैं, फूफू (बुआ) उन्हें आटे में गूथंती है और लोई बनाती है, यदि कोई तीर्थ स्थल नहीं जा पाता तो झालरें गंगा, नर्मदा, सोन या अन्य किसी पवित्र नदी में बहा दी जाती हैं। एक रिवाज यह भी है कि एक झालर के रहते दूसरी झालर नहीं उगनी चाहिए। अर्थात् माँ के गर्भ में दूसरा बच्चा नहीं आना चाहिये। इसे किसी भी रूप में अच्छा नहीं माना जाता। इस लोकगीत में बुआ से सवाल जवाब है। देखें- 'हँसि बोलि पूंछई फलाने राम/ फूफू कउने गहनमा कै साध/ झलरिया निउछावरि हो/ रांग-पितर पहिरइं बानिन अउ कलबारिन/ बेटा पिअर मोहरबा कइ साध/ झलरिया निउछावरि हो।' मुण्डन संस्कार के बाद लड़के को नहलाया-धुलाया जाता है। चंदन लगाया जाता है और सामूहिक भोज भी दिया जाता है।

कन्धेदन (कर्णवेध संस्कार) जन्म के पांचवें वर्ष होता है। बच्चे के दोनों कान सोनार छेदता है। बच्चियों के कान के साथ नाक छेदने का रिवाज भी है। सम्पन्न लोगों के यहां नाक और कान में सोने की बालियाँ पहनाई जाती हैं। जबकि गरीब लोग तांबा या किसी अन्य धातु की बालियाँ पहनाते हैं। परिवारी और कुटुम्बी और नाते-रिश्तेदार भोजन करते हैं। जनेऊ संस्कार को यज्ञोपवीत, उपनयन अथवा बरुआ भी कहा जाता है। इसमें छियान्वे अंगुल का एक जनेऊ जिसमें तीन ताग होते हैं, पहराया जाता है। ये तीन ताग तीन ऋणों के सूचक हैं। ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण से मुक्त होने का संकल्प किया जाता है। इसलिए संन्यास आश्रम में जनेऊ उतार दिया जाता है। बटुक इस अवसर पर दस प्रतिज्ञायें लेता है। व्रतबंध के समय सात ब्राह्मण बटुक को अपने खाद्य का जूठन या टुकड़ा देते हैं। यह संस्कार पूर्व के समय में विस्तार से सम्पन्न होते थे। इसमें एक रिवाज बरुआ रिसाई की भी होती है। सात घरों से बटुक को भिक्षा मांगनी पड़ती है। बरुआ के अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं। उसे सामान्यतः सभी महिलायें नहीं गा पातीं। ये काफी कठिन होते हैं। दो उदाहरण दृष्टव्य हैं -

- 1) *जउने बन सिंकिया न डोलइ, कोइली ना बोलइ हो
तउने बन होइले दुलेरुआ, हेरइं मृगछाला हो
हेरें मिरिगा नहिं पामइ बनइँ बन भटकइँ हो
घाम लागइ सिर घाम, पांयन लागइ भूँभुर हो
अरे-अरे बपवा फलाने राम, बरुआई छत्र तनावा हो।*

सोनेन छत्र तनबउबे रूपेन पिढली मँगबउवे हो।

- 2) *हरे-हरे कातिक कुमरवा चइत कबै लगिहई हो।
बाबू उनके गये हैं बजरिया हरद लये अइहै हो।
दादी उनकी रंगती पियरिया, पहिरि भीखी डरिहइ हो।*

विवाह संस्कार बघेलखण्ड में बहुत उत्साह और उमंग के साथ मनाया जाता है। इसमें धूम-धड़ाका, गाजा-बाजा, शहनाई, नाच-गाना सब हुआ करता है। यह संस्कार वरिच्छा या फलदान से शुरू होता है। लड़की पक्ष के लोग हल्दी, चावल, सुपारी, नारियल, फल-फूल के साथ प्रतीक के रूप में कुछ रुपये भी सौंपते हैं वर पक्ष को। यूं तो 'वरिच्छा' का अर्थ है वर की इच्छा। इसमें दोनों पक्षों को प्रस्ताव स्वीकार है कि ध्वनि होती है। तिलक शादी का मुहूर्त। वरिच्छा के पश्चात् ही दोनों पक्षों में मंगल गीतों को गाने की परम्परा है। विवाह संस्कार के भीतर तरह-तरह के रिवाज हैं। तिलक, मटिमगरा, मण्डप (मंडवा) में मगरोहन या खम्भा गाड़ा जाता है। वर और कन्या को तेल चढ़ता है। मातृ पूजा होती है, इसे लोक में मंत्री पूजा भी कहते हैं। कोहवर बनता है। द्वारचार, बारात का स्वागत, चढ़ाव, भाँवर, विदा आदि परम्परायें सम्पन्न होती हैं।

विवाह संस्कार सबसे बड़ा संस्कार इसलिए कहा गया है कि इसमें केवल दो आत्माओं का मिलन भर नहीं होता, दो कुलों-कुटुम्बों का मिलन भी होता है। समूचे रिश्तेदार, मित्र, सगे-संबंधी, गाँव-पड़ोस के लोग इसमें शामिल होते हैं, जिनसे हमारे किसी भी संदर्भ में रिश्ते हैं। बाल बनाने वाले, मिट्टी के बर्तन देने वाले। बाँस का सामान देने वाले धोबी, जुलाहा, माली, बारी, कहार आदि सब। मेरे ख्याल से यह हमारे जीवन का सबसे बड़ा उत्सव है। पूर्व के समय में जो चीजें बहुत संक्षेप में होती थी। उनके रूप अब विस्तृत और भयावह हो चले हैं। दहेज बढ़ गया है। प्रदर्शन हो रहे हैं पैसे की बर्बादी हो रही है। समाज में काटानासी बढ़ रही है। वर पक्ष द्वारा दहेज प्राप्त न होने पर सरकार द्वारा वांछित कानूनों को ताक पर रखकर कई दुःखद प्रसंग होते हैं। बहुएँ जला दी जाती हैं। उन्हें प्रताड़ित किया जाता है। आत्महत्या के लिये प्रेरित किया जाता है। आधुनिकताओं के इस पूरे तामझाम में समाज की यह कौन सी दिशा है। शादी जैसे संस्कार में विधवाओं को अशुभ माने जाने का रिवाज है। आज के दौर में यह बिल्कुल गलत है। दहेज के कारण हत्याएँ हो रही है। यह हमारे समाज के

सामने बहुत बड़ा प्रश्नवाचक है। इसके उत्तरों की तलाश में समाज को जाना ही होगा।

विवाह के अवसर पर तरह-तरह के गीत गाये जाते हैं। कुछ गीत तो काल के गाल में समा गये। कुछ गीतों ने अपने स्वरूप को बदल लिया। लोकगीतों में मिक्सिंग और फिक्सिंग हो रही है। ये संस्कार हर जगह है और इसकी अनेक तरह की रीतियाँ-नीतियाँ हैं। दुआरचार के समय कन्या पक्ष की ओर से वर पक्ष के लोगों के साथ हँसी-मजाक और परिहास के गीत महिलाएँ गाती हैं। इनमें जो रस है, इनमें जो उमंग है, उसे देखते ही बनता है। ये हास-परिहास दोनों पक्षों को तृप्त कर देने में समर्थ हैं। लोक का यह रंग कभी धीमा न हो। हम केवल यही कामना कर सकते हैं।

- 1) काटे कूटे पान लड़ आये, खोखली सुपारी रे।
बारे दूल्हा ब्याहन आये, लंगड़ी महतारी रे।
- 2) बड़े-बड़े मूँछन के आये, मोरे मन एकौ न आये।
बड़े-बड़े पेटन के आये, मोरे मन एकौ न आये।
बड़े-बड़े हाथन के आये, मोरे मन एकौ न आये।
बड़े-बड़े गोड़न के आये, मोरे मन एकौ न आये।

विवाह को बघेली में 'बिआह' कहा जाता है। पूरे बघेली अंचल में इस संस्कार से संबंधित लोकगीतों की भरमार है। मुझे लगता है कि बघेली लोकगीतों में जितने गीत हैं, उसका आधे से ज्यादा हिस्सा बिआह संस्कार गीतों के खाते में है। इसका बंटवारा करें तो 'बिआह' संस्कार में दो प्रकार के गीत हैं- अवसर तथा भावों के परिप्रेक्ष्य में और शैली के संदर्भ में। वरिच्छा से शुरू हुआ यह संस्कार बेटे की विदाई और वर के अंतिम परछन अर्थात् वर-वधू के साथ गृह प्रवेश तक जाता है। और बाद में देवी-देवता पूजन तक लगातार चलता है। देवी-देवताओं की पूजा से यह माना जाता है कि दाम्पत्य जीवन सभी बाधाओं और अवरोधों से मुक्त होगा। तिलक, मटिमंगरा (माटी मागर), मड़वा (मण्डप), मातृपूजा, तेल चढ़ौनी के गीत, बनरा-बनरी के गीत, अंजुरी, लावा परसाई, भांवर के गीत, परछन के गीतों की एक लम्बी श्रृंखला है।

वर पक्ष की ओर से बनरा गीत गाये जाते हैं। बनना, बना और बनरा शब्द इसके लिये प्रचलित हैं। दूल्हा के श्रृंगार से संबंधित गीत और दूल्हा से छेड़छाड़ भी इसमें शामिल है।

1. परदा के भीतर राखो री लग जइहें नजरिया।
माथे बना के मोरे सोहें लड़ियां भीतर राखो री
लग जइहें नजरिया।
2. बना के लम्बे-लम्बे केस गुलाबी आँखें रे।
बना को जामा जन पहनइयो कोऊ देखि लइहें रे
कोऊ देखि लइहें रे, नजरिया लागि जइहें रे।
नजरिया लागि जइहें रे, झरइया साथै जइहें रे।
3. केसर की क्यारी बुआवा, बनरे का केसर सोहें।

उसी तरह कन्या पक्ष में 'बनरी' गीत गाये जाने का प्रचलन है। दुल्हन को बन्नी, बनरी अथवा बनी भी कहा जाता है।

बन्नी धीरे रे चला ससुरार गलियां।
माथे बन्नी के बेंदी भी सोहे,
टिपकिन में जड़े हैं हीरा हजार।

कन्यादान का एक प्रसिद्ध गीत इस प्रकार है-

थारी जे काँपड़ गोडुआ जे काँपड़-काँपड़ कुसा केरि डारि
मँडए मां काँपड़ बाबा उन्हें सिंह देत कुमारी का दान।
गंगा केर पानि सुपानि हो कलस भर लामइ हो
देत उन्हें सिंहदान सबइ कोइ आनइ हो।

भांवर पड़ने के अवसर पर एक लोकगीत गाया जाता है। पूरा गीत इस प्रकार है-

पहिली भंवरि फिरि आइउं बाबा अबहूँ तुम्हारी हों हो।
दुसरी भंवरि फिरि आइउं बाबुल अबहूँ तुम्हारी हों हो।
तिसरी भंवरि फिरि आइउं पितिया अबहूँ तुम्हारी हों हो।
चउथी भंवरि फिरि आइउं भइया अबहूँ तुम्हारी हों हो
पंचई भंवरि फिरि आइउं नाना अबहूँ तुम्हारी हों हो
छठई भंवरि फिरि आइउं आजी अबहूँ तुम्हारी हों हो
सतवीं भंवरि फिरि आइउं माया अब भइउं पराई हों हो।

शादी के बाद बारात घर लौटती है, वधू के साथ परछन होते हैं। परछन के गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

आज का दिन अच्छोरी माई रामा वन से आये।
घर लिपवाबा अंगने मां चौक पुरबावा रामा वन से आये।

बघेली बोली के साहित्य की वाचिक और लिखित परम्पराएँ यद्यपि बघेली अंचल तक सीमित रही हैं, जिन पर सीमावर्ती बोलियों और वहाँ की परम्पराओं का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। लेकिन पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ने इन्हें बदला है। संस्कार गीतों में मिलावट और तोड़-फोड़ भी हुई है। इस दौर में सब कुछ बदल रहा है। बोली, संस्कार, परंपराएँ, रीतियाँ इन सबको गहराई से अनुभव भी किया जा सकता है। आधुनिक के संगीत पर थिरकते युवाओं को देखिये। हँसी-खुशी और मजाक के स्थान पर थोड़ा या बहुत नशा करके जो अबाध नृत्य फिल्मी गीतों पर हो रहे हैं। और उत्तर आधुनिकता के नाम पर पूरा समाज मौनी बाबा बना हुआ है। इससे आने वाले समय में क्या परिणाम होंगे। केवल

अंदाजा लगाया जा सकता है। उनके बारे में जो भी कहा जाये कम है। बघेली अंचल में परिवर्तन की आहट से कोई इनकार भी नहीं कर सकता। संस्कार गीतों का प्रयोग कम हो चला है। अनेक संस्कार केवल दिखावे के तौर पर सम्पन्न हो रहे हैं। जन्म एवं विवाह संस्कारों के पुराने उत्सव रूप बदल रहे हैं। उमंग तरंग के स्थान पर दिखावा, प्रदर्शन और अपने आपको बड़ा साबित करने की संस्कृति ने विवाह के अवसर पर कन्या पक्ष को लगभग श्रीहीन और किंकर्तव्यविमूढ़ की मुद्रा में ला खड़ा किया है। वे पुराने सभी साँचे टूट गये। अब शिष्टाचार के वे अवसर भी खत्म हो गये। जो खत्म हुआ है—उस पर अफसोस जाहिर करने के अलावा अब कोई चारा नहीं है।

बघेली एवं अवधी के संस्कार गीत

डॉ. अमित शुक्ल

वक्त का पहिया निरन्तर घूमता रहता है, समय गतिशील है और भाषा भी। रुकना न मानव का स्वभाव न भाषा का। समय चक्र में आंचलिक भाषा की जो मिठास पूर्व में थी वह आज भी है और भविष्य में भी रहेगी, फिर वह चाहे बघेली हो या अवधी। इन भाषाओं के संस्कार गीत तो आज भी भूमंडलीकरण के इस दौर में भी मन को मोह लेते हैं, यह तो आंचलिक भाषाओं का चमत्कार ही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लोकसाहित्य शिष्ट साहित्य के लिए सदा उपजीव्य रहा है और भविष्य में भी रहेगा। भारतवर्ष के मध्यभाग में बघेलखंड व अवध दो ऐसे अंचल हैं, जहाँ बघेलखंड की लोकभाषा बघेली है, जिस पर बहुत दिनों तक अवधी का वर्चस्व रहने के कारण उपेक्षित बनी रही। वहीं अवध क्षेत्र गंगा एवं सरयू जैसी महान नदियों के मैदानी सौंदर्य का अपूर्ण भूखण्ड है। बघेली नामकरण के पूर्व इसे गोहराई या रिमहराई बोली कहते थे। अवधी तथा गोहराई बोली में साम्य होने के कारण कुछ विद्वानों ने एक ही बोली के दो रूप माने हैं। पर बघेली भाषा के अध्ययन से व्याकरण रचना, ध्वनि तथा शब्द को भाषा की दृष्टि से उसका स्वतंत्र अस्तित्व प्रमाणित हो चुका है। अगर देखा जाए तो बघेलखंड और अवध के संस्कार गीत यहाँ की संस्कृति परम्पराओं को अपने आपमें समेटे हुए हैं। दोनों क्षेत्रों के प्रचलित लोकगीतों में ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक चेतना का भाव परिलिखित होता है। किसी भी अंचल के लोकगीत या संस्कार गीत ग्राम्य संस्कृति का दर्पण हैं। इस दृष्टि से बघेली या अवधी क्षेत्र के लोकगीतों में भी यह बातें दृष्टिगत होती हैं। यहाँ के गीतों या लोकगीतों में विविध धारणाएँ, रूढ़िवादिता, अन्ध-विश्वास आदि मान्यताएँ देखने को मिलती हैं। सादियों से सताए गए यहाँ के निवासियों की भावनाओं की अभिव्यक्ति यहाँ के गीतों में मिलती है। वर्तमान समय में यहाँ परम्परायें, संस्कार, परस्पर मानव

प्रेम का हास होता जा रहा है, वहीं इस अंचल के संस्कार गीत मन को सहज ही मोह लेते हैं। बघेली और अवधी के संस्कार गीतों की लोकप्रियता वर्तमान समय में बरकरार है और भविष्य में भी रहेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। बघेली और अवधी के जो संस्कार गीत हैं, वे जन्म संस्कार, मुंडन संस्कार, जनेऊ संस्कार, विवाह संस्कार के गीत मुख्य हैं, इनके अतिरिक्त अनेक संस्कार गीत हैं। जो यहाँ के जन मानस में अपनी लोकप्रियता को कायम रखे हुए हैं। बघेली और अवधी के मुख्य संस्कार गीतों में जन्म संस्कार के समय गाए जाने वाले गीत सोहर, दादरा, कुआँ पूजन आदि के गीत हैं। पुत्र कामना के सोहर गीत आज भी कहीं-कहीं प्रचलन में हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पुत्र से वंश चलता है। बघेली व अवधी दोनों क्षेत्रों की नारी पुत्र कामना के लिए देवताओं से प्रार्थना करती है। बघेलखण्ड की नारी पुत्र प्राप्ति के लिए राम, सूर्य, गंगा से प्रार्थना करती हैं। यहाँ सूर्य में पुत्र देने का सामर्थ्य अधिक माना जाता है। अवध क्षेत्र में पुत्र की कामना गंगा और राम से की जाती है। गंगा स्त्री को पुत्र होने का वरदान देती है। उस समय स्त्री कहती है कि यदि मेरी मनोकामना पूर्ण होगी तो- हे गंगा मइया! मैं आपको पिअरी चढ़ाऊँगी। प्रसव गीतों का भी बघेलखंड में अत्यंत महत्त्व है। यद्यपि गर्भाधान से लेकर जन्म तक पति-पत्नी के हास-परिहास के गीत बघेलखंड में पाये जाते हैं, किन्तु अवधी में इस तरह के गीतों का बाहुल्य है। पुत्र के जन्म लेने पर आनंद की अभिव्यक्ति वाले सोहर गीतों में कौशल्या-दशरथ और यशोदा-नन्द धन-वस्त्र लुटाते हुए बताए गए हैं। बघेली और अवधी के सोहर गीतों में करुण भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है, पर अवधी में कुछ कम है। देखा जाए तो करुण भावना की अभिव्यक्ति वाले सोहर गीत बघेली और अवधी दोनों में अत्यंत प्रसिद्ध रहे हैं। बघेली और अवधी में वर्णात्मक सोहर गीत भी दृष्टिगत होते हैं, जिसमें बालक के छोटे-छोटे पैरों तथा काली झालरि का भाव रहता है। अवधी में इस प्रकार के गीतों को सरिया कहते हैं। ये गीत पुत्र जन्म के बाद ही गाये जाते हैं। बच्चे के जन्म से गाने की प्रथा है, इस तरह के गीतों में भी ननद-भाभी से नेग न मिलने पर नेग मांगते हुए दिखाया गया है। अवधी में इस अवसर पर गाए जाने वाले दादर में भाभी अपनी ननद को पति से कहकर बुलवाती है और उसको नेग देती है। बघेलखंड में कुआँ पूजने का भी विधान है। शिशु जन्म के बारहवें दिन कहीं-कहीं गाँव में इसका रिवाज है। लोगों का विश्वास है कि ऐसा करने से माता का स्तन दूध से पूर्ण रहेगा।

बघेलखंड में पुत्र जन्म के समान मुंडन संस्कार धूमधाम से नहीं मनाया जाता। अधिकतर यह संस्कार किसी तीर्थ स्थान, देवी-देवताओं के मंदिर पर या नदी के किनारे पूर्ण किया जाता है। इस कृत्य में बच्चे के फू-फू का होना अनिवार्य रहता है। इस अवसर पर जो गीत गाए जाते हैं, उन्हें मुंडन गीत कहा जाता है। अवधी क्षेत्र में भी यह संस्कार मनाया जाता है। इस अवसर पर अवधी में कोई अलग गीत नहीं गाये जाते, बल्कि सोहर गीत ही गाने की प्रथा है। बघेली लोकगीतों में फुआ और फू-फू के नेग की चर्चा रहती है, जबकि अवधी में मुंडन दादी करवाती है। इसके अतिरिक्त यज्ञोपवीत (जनेउ)के गीत भी बघेलखण्ड और अवधी में लोकप्रिय हैं, बघेलखंड के गाँवों में आज भी यह संस्कार बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। यह कृत्य पुरोहित द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। इस संस्कार को बरुआ कहते हैं, जो संस्कृत के बटुक शब्द से उत्पन्न हुआ है। इस अवसर पर 96 अंगुल की जनेउ का विधान है, जब यह संस्कार सम्पन्न हो जाता है तो बटुक दूर देश जाने लगता है। इसे रिसाना कहते हैं, जिसको बटुक का मामा कुछ द्रव्य या जमीन या आम के पेड़ देने को बाध्य होता है। बरुआ में भीख मांगने की प्रथा है। अवधी क्षेत्रों में भी यह प्रथा बरकरार है। बघेलखण्ड में रश्म है- उस समय के गाये जाने वाले गीतों में करुण भावना की अभिव्यक्ति अत्यन्त सजीव हो उठती है। अवधी के गीतों में भी ऐसा है, पर वह बघेलखण्ड के गीतों की तरह सजीव नहीं होते। इस प्रकार बटुक अपने माँ-बाप तथा अन्य बड़ों से भीख मांगता है और काशी प्रस्थान की ओर तैयारी करता है। विशेष बात यह है कि जहाँ बघेली गीतों में माँ आशीर्वाद देती है, वहीं अवधी में माँ बच्चों को घर पर ही पढ़ने के लिए आग्रह करती है।

इस प्रकार बघेलखण्ड और अवधी के संस्कार गीतों को यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो इसमें साम्य अधिक और अंतर कम है। फिर भी बघेली और अवधी के संस्कार गीत आज भी लोकप्रिय हैं, वो चाहे विवाह संस्कार के गीत हों, तिलक के, माटी मागर के, मंडप के गीत हों या मातृपूजा, चढ़ाव, बन्ना, भांवर, लावा परोसने के गीत हों, सभी संस्कार गीतों ने बघेली और अवधी की लोकप्रियता को बरकरार रखा है। बघेली और अवधी के तमाम संस्कार गीतों में ग्रामीण जीवन के सभी पक्षों का स्वाभाविक वर्णन हुआ है, यही इसकी सजीवता है जो बघेली और

अवधी के गीतों में भूमंडलीकरण के इस दौर में भी लोकप्रियता को कायम रखे हुए है। अवधी के संस्कार गीतों में बघेलखण्ड के गीतों की महक सहज ही मन को मोह लेती है। बघेलखण्ड और अवध के संस्कार गीतों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो उनमें साम्य के साथ अंतर भी दिखाई देता है। पर ये संस्कार गीत आज भी परम्परा को कायम रखते हुए जन-जन में बसे हुए हैं, कहीं न कहीं किसी न किसी संस्कार में इनकी गूँज सहज ही कानों में मधुर रस घोल ही देती है। अतः बघेली और अवध के इन संस्कार गीतों का आकर्षण आज भी बना हुआ है, और इनकी महक भविष्य में भी बनी रहेगी, क्योंकि बघेली और अवधी के संस्कार गीतों में मन को मोह लेने वाली अपार क्षमता है।

बघेली आदिवासियों के गीत

बघेलखण्ड की जनभाषा बघेली लोकजीवन और लोक संस्कृति की पहचान है, यहाँ के लोकगीत भूमण्डलीकरण के दौर में भी उतने ही उत्साह, उमंग से गाए और पसंद किए जाते हैं, जितने प्राचीन समय में। समय के बदलते परिवेश में युवाओं एवं वृद्धों में आधुनिकता की छाप स्पष्ट नजर आती है, पर बघेलखण्ड के लोकगीतों की दृष्टि से देखा जाए तो आज भी संस्कार गीत, देवी-देवता के गीत, आदिवासियों के विविध आयामी गीत, जीवनचर्या गीत, श्रमगीत, बालकों के गीत, नृत्यगीत आदि अनेक प्रकार के लोकगीतों की लोकप्रियता वर्तमान समय में भी है।

बघेलखण्ड के लोकगीतों में आदिवासियों के गीतों की दृष्टि से देखा जाए तो उनके लोकगीत आज भी लोकप्रिय है। चाहे वो संस्कार गीत हों या त्योहारों के गीत, काम करते समय के गीत, मंत्र टोना-टोटका या जादू सिद्ध करने वाले तथा विश्राम आदि गीतों की लोकप्रियता आज भी है। आदिवासियों के गीतों को तेरह भागों में विभक्त किया जाता है, उनमें से कुछ प्रमुख लोकप्रिय गीत ये हैं-

प्रेम सम्बन्धी करमा गीत-प्रेम में अगर संयोग व वियोग न हो तो प्रेम कैसा। देखा जाए तो आदिवासियों के प्रेम सम्बन्धी करमा गीत में प्रेम और वियोग दोनों हैं-

नजर मा झूलइ रे पातर मुँह के छोकरी।
दार बना ले भात बना ले, अउर बना ले गोस
खोरिन-खोरिन हेरि भुलाने नाहीं मिलह दोस,
नजर मा झूलइ रे पातर मुँह के छोकरी।

पर वह किसी न किसी बहाने अपनी प्रेमिका के पास पहुँच जाता है-

तोरे टोला माखूं मागईं गयउं, लागि गा करउंदा,
असल के दोसी होस तौ, निकारि दे करौंदा कांटा हो।

एक नारी के कटाक्ष का वर्णन करमा गीत में किया गया है, जो इस प्रकार है-

कहना कै यार चाउर, कहना केर पिसान
कहना कै बांकी डउकी, मारइ निसान।
गौरैला के दार चाउर गौरैला केर पिसान।
पेंडरा के बांकी डउकी, मारइ निसान।

वियोग के गीतों में वीर और करूणा भाव दोनों ही दृष्टिगत होते हैं-

सर-सर बान चलत, डइंग-डइंग तीर चलत।
घट मुरहा इनक झहराये गहवर गज घाट घहराये।
लउट सर पट नागदेव आये, बालम-विधि घेरे आये।

झूमर और लहकी करमा में वियोग श्रृंगार की भावना अधिक रहती है, एक झूमर करमा इस प्रकार है-

आसउं केर संवत निरधारे
तरु मोर साजन ना आबाहइ रे,
झिंगुरा झंझकार मताइस खरहा टहकोरे,
बैरी चाण्डाल आधा खटिया भर पा रे,
साजन नहीं आवा हइ रे।
लग गई जेठ मास, लग गई असाढ़
चींटी चुनगुन आपन धार खोजें,
बैरी चाण्डाल अबहूँ खबर नाहिं लेइ रे।
साजन नहीं आबा हइ रे।

सुर-सुर पमन चलत, खरभर उत्पात करत,
अम्मा अमिली के डार, कोहली सुर करती,
पर साजन नहि आवा हइ रे।

घुमड़त हइ चार दिसा, बरसत हर बूंद मघा
चार बूंद छतियन मां परइ, अचकच जिया करइ
तरु साजन नहीं आबा हइ रे।

टिटका टहकार देत, झिंगुरा इनकार देत,
पै साजन नहीं आवा हइ रे।

उपर्युक्त गीत के अतिरिक्त आदिवासियों का एक लोकप्रिय गीत शैला है, इसमें श्रृंगार का आधिक्य है, जिसे झूम-झूम कर लोग गाते हैं, झूमर शैला का यह एक गीत इस प्रकार है-

पइरी पहरी दुइ दुहरइली झमकत आबइ अकेल
मोरे राजा झूमर आई।
चुरबा पहिरइ दुइ दुहरइली, झमकत आबइ अकेल
मोरे राजा झूमर आई।
बहुंटा पहिरइ दुइ दुहरइली, झमकत आबइ अकेल,
मोरे राजा झूमर आई।
ढरकुलिया पहिरइ दुइ दुहरइली, झमकत आबइ अकेल,
मोरे राजा झूमर आई।

नजर या टोना-टोटका को हटाने वाले कई गीत आदिवासियों द्वारा प्रयोग किए जाते हैं, एक उनका प्रसिद्ध गीत है-

नमो नजर जहाँ पर पीर न जानी
बोली दल से अमरित बानी,
कहो नजर कहाँ ते आई
रहन केर ठउर तोही कउने बताइ,
को बर बेटी का तोर नामा
कहाँ को उड़ी, कहाँ को जाय,
अबहिन बस करि लेहउं तोर माया
मोर जात सुनल्या चित लगाई
जैसी होहु सुनबहु सोइ, तेलिन तमोलिन कह रानी,
मेहतरानी राजा के रानी
दोष ओही के सिर पर
मेरी भक्ती गरु के शक्ति
मंत्र इसुर वाचा।

इसी प्रकार जब दूसरे पर टोना-टोटका किया जाता है, उस समय आदिवासियों के द्वारा ये गीत प्रयोग में लाया जाता है-

काली मतवाली वचन न पेरे खाली
साधौ परसंसा, रकछा कर
पापी मक्खन वाली विक्रम पहार बिम्ब कालिक चला
मनसा देवी नाहिन कालिक ओर पुनिया ठाढ़
जो पास दुरंगा, तन में राख कुसाला

हांथ जोड़ मंदिर बइठावा, बरम घर माला
बुद्धा बानी भूंखे केर भोजन, पिआसे का ठण्डा पानी
चार खूंट मां संत बतावा, चार वेद मई जानयं वाले
खुलि गवा धरम दुआरी, नानक सुमिरउं सारी
मार पड़ापड़ सत्रु न केर भेड़ धड़ापड़
जै बोला काली भवानी, मोर वचन न परै खाली।

उपर्युक्त गीतों के अतिरिक्त नैन जुगानी लोकगीत आदिवासियों का अत्यंत मधुर गीत है, यह चाँदनी रात में गाया जाता है-

नैन जुगानी बालम जिन्दगानी हई थोड़ा
नैन जुगानी।

इस गीत में अनेक प्रकार की भावनाओं की अभिव्यक्ति रहती है, जैसे-

हंडिया डोले पइला डोले, डोलेगा रंघइया,
ऊपर लै पसइया गिरइ, झोंके ले बलइया।
नैन जुगानी बालम जिन्दगानी हई थोड़ा।

इसके बाद नर्मदा दर्शन की इच्छा व्यक्त की जाती है-

तिली रे भूंजइ, भूंजई तोर राई,
चला दरशन का चली नरमदा माई।
नैन जुगानी बालम जिन्दगानी हई थोड़ा।

इसके बाद प्रेम की अभिव्यक्ति की जाती है-

घर मा बोलइ घर चिरइया, बन मा बोलइ नेवरा,
खिरकिन तेरे मित्रा बोलइ, जुगगा सनेहा रे,
नैन जुगानी बालम जिन्दगानी हई थोड़ा
नैन जुगानी।

एक चाली माठा, त सोला डोला पानी।
तोर डउका हई परदेशी, काहे खोवै जवानी,
नैन जुगानी बालम जिन्दगानी हई थोड़ा।

इस प्रकार बघेलखण्ड में गाए जाने वाले लोकगीतों में आदिवासियों के लोकगीतों की अपनी एक अलग पहचान है, उन लोकगीतों की लोकप्रियता आज भी है और भविष्य में भी रहेगी।

लोकसाहित्य : परम्परा और प्रयोग

डॉ. विनय कुमार पाठक

लोकसाहित्य ऐसी संश्लिष्ट रचना है, जिसमें शिष्ट साहित्य-सदृश समग्र विधाओं को परिभाषित कर निरखना-परखना बाह्य दृष्टि से भले उचित हो, आंतरिक दृष्टि से कदापि संभव नहीं। यह जन-मन-जीवन-अनुभव का प्रारूप ही लोक द्वारा प्रदत्त एक सूत्र है जो प्रगीत-तत्त्वों से मिलकर लोकगीत तथा कथा से जुड़कर लोकगाथा बनती है। इसी तरह संवादों में ढलकर लोकनाट्य और किस्सा-गोई का वैशिष्ट्य लेकर लोककथा बनती है। इसके बावजूद यह भावनाओं व विचारों के प्रवाह में एक-दूसरी लोकविधाओं को स्पर्श करती है। यही कारण है कि लोककथा, लोकगाथा या लोकनाट्य में विवाह का संदर्भ आने पर विवाह-गीत, प्रणय-संपादन में ददरिया, विप्रलम्भ की स्थिति में सुवा-गीत, युद्ध के प्रसंग में पंडवानी आदि अन्यान्य गीतों व लोकछंदों का आगमन होता है। लोकसाहित्य का लोक-अभिप्राय ही उसे शिष्ट साहित्य से पृथक् करता है, जो आंतरिक दृष्टि से एक होकर सार्वदेशिक तथा आंचलिक रंगों के प्रभाव से क्षेत्रीय बन जाता है। यही लोकअभिप्राय किसी लोकसाहित्य की आत्मा है, जिनका तुलनात्मक अध्ययन लोकसाहित्य के मूल स्वरूप को उद्घाटित करने के साथ उनके युगानुरूप परिवर्तन के इतिहास को प्रस्तुत करती है।

लोकसाहित्य परंपरा-पोषक और संस्कृति-संवाहक होता है। इसमें युगानुरूप परिवर्तन बहुत धीमी गति से और आंशिक ही होता है। इसकी आत्मा को अक्षुण्य रखकर यदि प्रयोग किए गए तो वे लोक-स्वीकृत और शिष्ट-समादृत हो सकते हैं। कुछ समीक्षक लोकसाहित्य को मूलरूप में विद्यमान होने के पक्षधर हैं। इनके अनुसार इनमें परिवर्तन का प्रयोग उसकी विकृति के परिचायक हैं, लेकिन युगाग्रह और विकास को महत्त्व देने वाले परिवर्तन एवं प्रयोग युग के प्रतिष्ठापक हैं।

लोकसाहित्य लोक-अर्जित भावनाओं के सरल-सहज उद्गार हैं, अतः उनमें परंपरा स्वतः संपृक्त है। शिष्ट साहित्य में परंपरा कृत्रिम और अपेक्षाकृत आरोपित होती है, जबकि लोकसाहित्य में यही इसका प्राण है। यही कारण है कि इसमें कवि का श्रेय एक

व्यक्ति न लेकर सभी लोकगायक ग्रहण करते हैं और इसका प्रत्येक गायक कवि नहीं, लोकगायक या लोकगीतकार कहलाता है। इसी आधार पर यह भाषा, बोली, जाति, वर्ण, पद के भेद को दूर करने में सक्षम और लोक को लोक बनाये रखने तथा समाज के प्रत्येक मनुज को समरस का सिद्धांत संस्कार के रूप में प्रदान करने का संयोजन करता है। ये लोकगीत ही हमारे जीवन के अलिखित, व्यावहारिक शास्त्र हैं जो परंपरा से प्रचलित-प्रतिष्ठित हैं। आज इसकी उपेक्षा के कारण ही मनुज लोक या समाज से हटा है, संस्कृति और भूमि से कटा है। ऐसे संक्रमणकाल में लोकसाहित्य की वापिसी किसी न किसी बहाने लोग स्वीकार रहे हैं और प्रयोग के आधार पर ही सही, इसकी उपयोगिता को ग्रहण कर रहे हैं। छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य के आधार पर समय-सीमा को निखरते हुए सूत्र रूप में यहाँ अपनी बात प्रस्तुत कर रहा हूँ।

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों ने परंपरा, मर्यादा, नियम-अनुशासन के जो संस्कार दिए हैं, वे अद्वितीय हैं। बेटी-विदा-प्रसंग में पुत्री की माँ, पिता, भाई और भाभी की वेदना को माप लिया गया है। माता की ममता असीम है, अतः उसके रुदन से नदी बहने लगी। पिता की पीड़ा अपेक्षाकृत अल्प है, अतः उनके अश्रु से तड़ाग का निर्माण हुआ। भाई की भारवाहक व्यथा से डबरे भरे, लेकिन पराये घर से आयी भौजी के नेत्र सजल भी नहीं हो सके-

दाई के रोये नदिया बहत हे,
ददा के रोये तलाव।
भाई के रोये डबरा भरत हे,
भौजी के नयन कठोर ॥

शिष्ट काव्य में पीड़ा को मापने और मर्यादा को मथकर संस्कार देने की ऐसी लोकोपयोगी शिक्षा अलभ्य है। अधोलिखित पंक्तियों में दृष्टव्य है कि बहन कटि को कसकर रो रही है, जबकि भाई ग्रीवा को ग्रहण कर विलाप कर रहे हैं। यदि पिता मुख को ढाँपकर रुदन कर रहे हैं, तो माँ गाय की तरह रंभाकर अर्थात् 'बोम-फारकर' रो रही है।

कनिहा पोटकर के बहिनी रोवय, गर पोटार के भाई।
ददा बपुरा मंह छपक के, बोम फार के दाई।

यहाँ लोक ने भाभी को हाशिये पर भी नहीं रखा है। रुदन की माप के आधार पर पीड़ा को प्रस्तुत करना लोक को जितना

अभीष्ट है, उतना ही वह वाणी के आधार पर भी व्यथा को व्यक्त करने और मापने का आग्रही है। अधोलिखित पंक्तियों में वह उद्घाटित करता है कि माँ-बेटी को रोज अपने, पिता छह माह में तथा भैया वर्ष में एक बार तीज-पर्व के अवसर पर लेने आने का तथ्य निवेदित करते हैं, जबकि भौजी ननद को परायी होने का एहसास दिलाती हुई कहती है कि अब उसका इस घर में क्या काम है?

दाई कहे रोज आबे बेटी, ददा कहै छय मास हो।
भइया कहै तीजा-पोरा म, भौजी कहे कौन काम हो?

परम्परा-ग्रथित लोकगीत प्रकृति से प्रसूत और भूमि से उद्भूत हैं। यही कारण है कि इनके उपमान और प्रतीक अत्यंत प्रभावी तथा समरस होते हैं। अधोलिखित छत्तीसगढ़ी सुवा-गीत में लोकगीतकार की उद्भावना है कि सुग्गे की चोंच टेढ़ी लाल कुंदरू फल सदृश है, जिस पर मसूर की दो दालों की दो आँखें हैं। तन हरे भुट्टे की तरह है-

चोंच तोर दिखत हे, लाली-लाली कुंदरू,
रे मोरे सुवा, आँखी दिखे मसूरी के दार।
जोंधरी के पाना साँही डेना-संवारे,
रे मोरे सुवा, सुन लेबे बिनती हमार ॥

उल्लेखनीय है कि कोयले की खान में ज्वाला सुलगती देखकर एक काली महिला के मोटे होंठ पर लिपिस्टिक के लेप का बिम्ब नहीं उभरता, जबकि उपर्युक्त छत्तीसगढ़ी गीत के उद्धरण में लाल कुंदरू फल, मसूर की दाल और भुट्टे के संयोजन से सुग्गा तैयार हो जाता है। प्रयोगवाद के नाम पर प्रस्थापित आज कितने उपमान व प्रतीक समरस हैं? इसके विपरीत नाम व यश-लिप्सा से परे ये लोकगीतकार अनेक आंचलिक उपमान व प्रतीक देकर लोकमानस में प्रतिष्ठित हैं। लोकगीतों में संस्कार रचे-बसे हैं, जबकि शिष्ट साहित्य में यही संस्कृति से जुड़कर स्थायित्व प्राप्त करते हैं। छत्तीसगढ़ी गीतों में व्यवहृत दो संस्कार संपन्न लोकोक्तियों के उदाहरण से अपनी बात स्पष्ट करना चाहूँगा। हिन्दी में प्रचलित 'अंधा कानून' यदि सचमुच अंधा होता तो 'अंधा पीसे कुत्ता खाये' की तरह धनी और गरीब दोनों के लिये सहायक होता है? छत्तीसगढ़ी मढ़ई गीत में मुझे एक कहावत मिली- 'कनवा हे कानून अउ भैरा हे सरकार ग'। इसमें 'काना-कानून' मुहावरा प्रयुक्त है जो सार्थक है। पूंजीपतियों के लिए

कानून का एक नेत्र खुला और गरीबों के लिये इसकी एक आँख बंद है। इसी तरह 'काला अक्षर भैंस बराबर' लोकोक्ति भी उचित जान नहीं पड़ती, क्योंकि भैंस और अक्षर रंग-साम्य ही रखते हैं, जबकि भैंस का हितैषी निरक्षर है। छत्तीसगढ़ी में समादृत 'काला अक्षर साँप बरोबर' अधिक उपयुक्त है। अक्षर और सर्प दोनों टेढ़े-मेढ़े हैं। अशिक्षित सर्प की तरह प्रतीत होने वाले अक्षरों से बिदकते हैं। समाचार पत्रों में हम सब छोटे अक्षर से लेकर मोटे अक्षर तक रोज देखते-पढ़ते हैं। छोटे अक्षर सबसे लघु सर्प 'अंधा साँप' की मोटाई वाले तथा सबसे बड़े अक्षर अजगर सर्प की मोटाई वाले ही दृष्टिगत होते हैं। अक्षर और सर्प में जो साम्य है, उसे छत्तीसगढ़ी में संरक्षित लोकोक्ति अक्षुण्ण रखती है, जबकि 'आँख के अंधे और गाँठ के पूरे' शिष्ट साहित्य-सर्जक और समीक्षक भी संस्कार-विपन्न भ्रम के भँवर में फँसे हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि परंपरा पर आधारित लोकगीत अथवा लोकवार्ता की समग्र लोकविधाएँ, जिजीविषा का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि जब तक लोक रहेगा, लोकसाहित्य जीवित रहेगा।

लोककलाएँ प्रदर्शनकारी नहीं होतीं। वे लोक के लिये अर्पित-समर्पित और सहज निर्मित-स्फुरित लोकरचना होती हैं, जो संस्कार व वातावरण के अनुरूप सहज-अभिव्यक्त होती हैं। इधर लोककलाओं को प्रदर्शन और विचित्रता-निर्दर्शन का पर्याय मानकर उसे विकृत करने का जो उपक्रम किया जा रहा है, वह क्षम्य नहीं कहा जा सकता। यहाँ प्रदर्शनकारी लोककलाओं से आशय उसके जन-मन के मध्य लोकप्रिय होने और व्यवसाय के रूप में इसे पीढ़ी दर पीढ़ी संचालित रखने से है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यवसाय समझकर कलाकार इस क्षेत्र में अग्रसित हों और लोककलाओं को प्रदर्शनकारी बना दें। लोकसांस्कृतिक कार्यक्रमों का महत्त्वपूर्ण संयोजन प्रदर्शन से संपृक्त होकर प्रकारान्तर में लोकनाट्य के प्रभाव व दबाव को ही व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ नाचा या गम्मत लोकनाट्य है, लेकिन लोककीर्तन की परंपरा में अवस्थित लोकगाथा पंडवानी भव्य मंचों में जाकर लोकनाट्य से संपृक्त हुआ, ९ तदनुरूप पंडवानी-गायक (और गायिका भी) अभिनय के द्वारा हाव-भाव की विविध अभिव्यक्ति करने लगे। इस तरह लोकगाथाओं पर अभिनेयता का आकर्षण बढ़ा। इसी भाँति छत्तीसगढ़ी लोकगाथा 'लोरिक चंदा' में एकल अभिनय अथवा विविध पात्रों के द्वारा लोकगाथा के साथ नाट्य प्रस्तुति का प्रभाव उसकी प्रदर्शनीयता

की ही प्रतीति है। इसके विपरीत ढोला-मारू, सरवन, गोपीचंदा आदि लोकगाथा के रूप में अक्षुण्ण हैं, लेकिन निकट भविष्य में लोकनाट्य से ओतप्रोत होकर ये भी प्रदर्शनकारी होंगी, ऐसा विश्वास बनता है। लोरिक-चंदा को जहाँ प्रदर्शनकारी लोकनाट्य का स्वरूप देते हुए श्री लक्ष्मण चन्द्राकर ने नव्य प्रयोग किया, वहीं उसकी प्रारंभिक प्रस्तुति को अक्षुण्ण रखते हुए श्रीमती रेखा निषाद व सोन सागर चनैनी पाटी ने साभिनय प्रस्तुति के द्वारा इसका मनमोहक प्रदर्शन किया है। पंडवानी की 'वेदमती शाखा' जहाँ प्रदर्शनकारी लोककला की श्रेणी में आकर भी लोककीर्तन व लोकगाथा के सन्निकट है, वहीं इसकी कापालिक शाखा लोकनाट्य के अधिक समीप है। प्रथम शैली के प्रमुख लोककलाकारों में श्री झाडूराम देवांगन, पूनाराम निषाद आदि हैं, जबकि दूसरी शैली में पद्मश्री तीजनबाई प्रसिद्ध हैं। भरथरी व ढोला की लोकगाथात्मक-प्रस्तुति जहाँ श्रीमती सुरूजबाई की विशिष्टता है, वहीं उसकी लोकनाट्य-प्रस्तुति श्रीमती रेखा निषाद की निजता है।

लोकनाट्य की भाव-भूमि पर छत्तीसगढ़ी लोककलाएँ प्रदर्शनकारी ही सिद्ध हुई हैं। यदि श्री हबीब तनवीर के इस प्रयास ने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्रदान की तो श्रीरामचन्द्र देशमुख को 'चंदैनी गोंदा कारी' से देशव्यापी प्रसिद्धि मिली। 'एक रात का स्त्री-राज' लोकनाट्य 'डिंडवा नाच' का प्रयोगजन्य लोककला-रूप है, जिसे श्री रामचन्द्र देशमुख ने प्रस्तुत किया। यह लोकनाट्य महिलाओं तक सीमित था। इसे जन-जन तक प्रदर्शित करने का उपक्रम अभिनंदनीय है। 'अरे मायावी सरोवर' में डॉ. शंकर शेष ने छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का प्रयोग किया है, लेकिन उसका पर्यावरण प्रस्तुत करके उसे प्रस्तुत किया है। यही प्रयोग ग्राह्य है, जैसे कि 'भारत : एक खोज' दूरदर्शन धारावाहिक में पद्मश्री तीजनबाई के पंडवानी का प्रयोग अत्यंत प्रभावी है। श्री हबीब तनवीर के 'चरणदास चोर' और 'आगरा बाजार' को लोकसाहित्य का समावेश अर्थात् लोककथा और लोकगीत के अनुरूप परंपरा और परिवेश के परिपालन के कारण ही सफलता मिली है, लेकिन यदि 'गाँव के नाम ससुराल, मोर नाम दामाद' में वे पिता द्वारा पिता पुत्री-विक्रय की प्रथा की चर्चा करते हैं, तो जन-मन इसे अंगीकार नहीं करता। इसी भाँति सुवा गीत में बाह्य प्रयोग एक बार स्वीकृत है, लेकिन उसे द्रुत गति से गाकर और शास्त्रीयता का पुट देकर आकर्षक ढंग की प्रस्तुति का दावा करने वालों को

यह कहने में संकोच नहीं है कि लोकगीत में लोकसंगीत का रहना और लोकधुन विशेष के कारण उसकी पहचान है। प्रत्येक लोकगीत लोकछंद है जिन पर कविता लिखकर आंचलिक कवि लोकप्रिय हो सकता है। देश की अनेक भाषा बोलियों के कवि-गायक लोकगीत-शिल्प-विधि को आधार मानकर अपनी पहचान बना चुके हैं, लेकिन इसका परिष्कार और ताम-झाम के हिसाब से आधुनिक रूप में प्रस्तुति का प्रयास उचित नहीं होगा।

नारी-दर्शन का प्रतीक - सुवागीत

छत्तीसगढ़ी लोकगीत का अत्यंत जनप्रिय रूप है- सुवा गीत। ये गीत नारी के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और व्यथा-कथा को अभिव्यंजित करते हैं। सुवा-गीत नारी दर्शन का छत्तीसगढ़ी नामकरण है, जिसमें नारी की परवशता, असहायता के साथ उसके कोमल-कमनीय गुणों व महान-उदार हृदयों की झाँकी मिलती है।

जब खेतों में धान की बालियाँ झूमने लगती हैं तथा पुरवैया के झोंकों से नाचती-इठलाती हैं, तब छत्तीसगढ़ी नारी का सुग्गा फुदकने लगता है। एक ओर अन्नपूर्णा की कृपा के कारण व्यक्त उल्लास का आवेग है, तो दूसरी ओर भावी जीवन के मंगलमय दिवस का संकेत। प्रेम और हर्ष से तरंगायित नारियाँ मेड़ में आ जुटती हैं। एक की प्रसन्नता, सब की प्रसन्नता हो जाती है। सब अपने आल्हाद को समवेत स्वर में व्यक्त करते हैं। सुवा-गीत-नृत्य की सृष्टि हो जाती है।

‘सुवा-गीत’ नामानुरूप सुवा को संबोधित कर गाये जाने वाले वे लोकगीत हैं, जिसमें सुवा के माध्यम से नारियाँ प्रकारांतर में अपने जीवन की कथा ही कहती हैं। सुवा सरल, निश्छल, सीधा-सादा प्राणी है। इसके बाद भी वह मनोरंजन का उपक्रम है। यही दशा छत्तीसगढ़ी नारी की रही है। अतः उन्हें सुवा के रूप में अपना गुण दृष्टिगत होता है, अपनी बात दिखलाई देती है। यदि सुवा हरित-रक्ताम-युक्त है, तो छत्तीसगढ़ी नारियाँ भी हरी साड़ी व लाल चोली से सज्जित। पिंजरबद्ध सुग्गे की तरह छत्तीसगढ़ी नारियाँ भी बंधन-युक्त हैं। उन्हें उन्मुक्त गगन में विचरण करने का अवसर भी नहीं मिला, यही तो विवशता है। इसलिए नारियाँ अगले जन्म में नारी-योनि में अवतरित होने की पक्षधर नहीं। कारण यह स्थिति तो रस्सी में बंधे हुए उस गाय की तरह है, जो जिसके हाथों सोंप दी जाए, प्रस्थित होना पड़ता है-

पड़ैया मँय लागों चंदा-सुरूज के रे सुवना,
मोला तिरिया जनम झनि देय।
तिरिया जनम मोर जनम के बैरी रे सुवना,
जिहाँ पठवय तिहाँ जाय।।

यदि जायसी का सुवा गुरु का प्रतीक है तो छत्तीसगढ़ी का सुवा विद्यार्थी का, जिसका गुरु व सर्वज्ञ छत्तीसगढ़ी नारियाँ हैं, जो उन्हें समझातीं-पढ़ातीं व उनका आश्रय-ग्रहण कर सुख-दुख की कथा उद्घाटित करती हैं।

छत्तीसगढ़ नारियों की पूर्व स्थिति अच्छी रही। मुस्लिम आक्रमण के फलतः समग्र देश के साथ छत्तीसगढ़ी नारियों की स्थिति भी अत्यंत दयनीय हो गयी। अनेकानेक परंपराओं और अंध-मान्यताओं में आबद्ध कर पुरुषों ने उनकी मान-मर्यादा को बचाने का प्रयास किया। तात्कालिक स्थिति से जूझने के लिये हिन्दू संस्कृति के अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने के लिए वह स्थिति उपयुक्त थी, लेकिन कालांतर में रूढ़ होकर वह नारी-बंधन और परतंत्रता का प्रतीक बन गयी, परिणामतः उसकी वाणी सुवा-गीतों से निःसृत होने लगी।

मुस्लिम आक्रमण के फलतः बाल-विवाह का निर्धारण हुआ। भयवश लोगों ने बालिका को कुंवारी निर्दिष्ट न कर विवाहिता दिग्दर्शित कराया, जिससे मुस्लिम आक्रांताओं की कुदृष्टि से वे बच जायें। सती-प्रथा का महत्त्व प्रतिपादित हुआ। इसी तरह लोकाचार में अन्य विधियाँ जुड़ीं, जो रूढ़ होकर नारियों को उन्मुक्त नहीं होने दे रही थीं। सुवा-गीतों के पर्यवेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि सुवा-गीत मुस्लिमों के अत्याचार के अनंतर नारियों की असहायता के फलतः निःसृत रचना है। जिस तरह उद्धव के प्रहार से भ्रमर-गीत की सृष्टि हुई, उसी तरह मुस्लिम अत्याचार से सुवा-गीत फूट पड़े, ऐसा आभासित होता है। सुवा-गीत में उपलब्ध वातावरण भी सामंती संस्कृति को व्यक्त करते हैं, जहाँ पूंजीपतियों की भव्यता वर्णित है। असहायों के लिए सम्मान का भाव नहीं है। वे गरीबी, उत्पीड़न व शोषण के शिकार हैं।

शब्द भी अपने उद्भव की कथा कहते हैं। छत्तीसगढ़ी में प्रयुक्त ‘जौहर’ शब्द मुस्लिम काल का शब्द है, जो सती के ‘जाहर’ का आनुनासिक व छत्तीसगढ़ी रूपांतरण है। जौहार में यदि नारी के विसर्जित होने का विकल्प संबोधन है, तो छत्तीसगढ़ी शब्द ‘जौहर’ में भी सब-कुछ लुटने की छत्तीसगढ़ी जन अभिव्यक्ति है। छत्तीसगढ़ी शब्द जौहर रायपुर के सत्ती बाजार और अनेक

स्थलों पर अंचल की सती-चौतरा या चबूतरा इस प्रदेश की सती-प्रथा की गौरवमयी परंपरा के सूचक हैं। इसके अतिरिक्त लोकसाहित्य तत्कालीन वातावरण के विविध पक्षों को उजागर करता है।

छत्तीसगढ़ में विवाह के बाद 'गौना' की प्रथा है। मुस्लिम काल में विवाह तो मात्र औपचारिकता की पूर्ति का संयोजन था। छत्तीसगढ़ी नारी गौना होकर प्रथम बार ससुराल आयी है। उसका प्रिय कितना निष्ठुर व व्यवसायी है कि जब तक प्रिया मायके में थी, वह परदेश नहीं गया- जब गौने के लिए आई है, वह उसी दिन परदेश के लिए प्रस्थित हो रहा है। नारी-मन चीत्कार उठता है-

*पहिला गवन कर डेहरी बइठारे रे मोर सुवा,
छाँड़ के बनज-चलि देय।*

इस लोकगीत को समीक्षक अकाल का आग्रह माने या गरीबी की भयावहता, लेकिन यह है- नारी के कोमल-कमनीय भाव से खिलवाड़ करने का सुंदर उदाहरण। यदि गरीबी थी, असहायता थी, तो गौना कराना व्यर्थ था। प्रिया मायके में रह लेती।

सुवा-गीतों में नारी की सौतिया डाह और उससे उत्पन्न हृदयगत मलीनता व घुटन का वर्णन समावेशित है। नारी पीड़ित है, त्रसित है। लेकिन वह सामंती संस्कार से संपृक्त भी है। सुवा उसका संदेशवाहक भी है, सखा भी है, सखी भी। सुवा द्वारा उसके कार्य-संपादन पर उसके डैनों को मोतियों से सजाने तथा स्वर्ण की थाली में दूध-भात खिलाने की बात कहती है-

*मोती के झालर डेना गुथैहों रे मोरे सुवा,
लाबे जब पिया के संदेस।
सोने के थारी म जेवन जवैहों रे मोरे सुवा,
पैया टेक रहौं हमेस।*

सुवा गीतों में टेक के रूप में प्रायः 'रे मोरे सुवा' व 'न मोर सुवा' क्रमशः प्रथम व द्वितीय पंक्ति में समादृत होता है। यह एक ओर जहाँ सुवा के प्रति आत्मीयता का सूचक है, वहीं दूसरी ओर उसके समझाने के लिए दुहराव-तिहराव का संयोजन भी। क्योंकि सुग्गा 'रंत विद्या' वाला प्राणी है। उसे प्रत्येक बात को बार-बार समझाया जाता है। जहाँ उक्त टेक की संयोजना है, वहाँ सुवा के माध्यम से नारी का अप्रत्यक्ष आरोपण है, किन्तु जहाँ उक्त प्रकार की टेक-संयोजना लुप्त है, वहाँ प्रत्यक्षतः नारी का सुख-दुख

ध्वनित है। सुवा के माध्यम से अपनी कथा कहने वाली नारी उबरकर व स्वच्छंद होकर जब स्पष्टवादिता का परिचय देती है, तब उसका प्रखर स्वर मुखरित हो उठता है। स्पष्ट है कि मान-मर्यादा के लिए नारी सुवा को आरोपित करती है और उससे असंपृक्त होने पर निर्ममतापूर्वक अपनी बात कहती है। दोनों रूप सुवा-गीतों का वैशिष्ट्य है।

सुवा-गीत नारी के समवेत स्वर का नृत्य-गीत है, क्योंकि यहाँ एक नारी की जो स्थिति है, वह सभी में परिलक्षित होती है। खेत में नारियाँ आवृत बनाती हुई, सुग्गे की तरह फुदकती हैं, नर्तन नहीं करतीं। आधी महिलाएँ गीत उच्चरित करती हैं। ऐसे समय में वे लगभग खड़ी स्थिति में दृष्टिगत होती हैं, अर्थात् वे नारियाँ हैं, जो अपनी जीवन-कथा को प्रस्तुत करती हैं। आधा दुहराती हैं और सुग्गे की तरह फुदकती हैं, जो सुग्गे-रूप को उद्घाटित करती हैं। टोकनी में मिट्टी का सुग्गा मध्य में अवस्थित हैं, जो इस बात का प्रतीक है कि मिट्टी का प्राणी भी अच्छा है, यदि वह स्वच्छंद हो।

नारियाँ सुवा-गीत गा रही हैं। अपनी व्यथा करते हुए वे तृप्ति का अनुभव-आस्वाद कर रही हैं। इसी बीच में निरखती हैं कि पक्षी फसल को खाने के लिए आ गये हैं। वे गीत-नृत्य का आनंद तजकर उन पक्षियों को उड़ाना भी नहीं चाहती, लेकिन भय भी है कि नाच-गान से उन्हें क्षति हो होगी। आवृत का अर्धनारी-समुदाय गायन में मस्त है, उनका ध्यान इस ओर नहीं गया है, किन्तु जो फुदक रही हैं, वे इस स्थिति को देखकर गीत के लय में संगीत की ताल देने के लिए ताली उच्चरित करती हैं। गीत-नृत्य में संगीत की अभिनव सृष्टि जहाँ रस-बरसा देती है, वहीं पक्षियों को उड़ाकर निर्विघ्न गीत चालित होने का उपक्रम भी निवेदित करती हैं। स्पष्ट है पहले गीत फूटे, फिर नृत्य जुड़ा और बाद में संगीत भी गुंफित हुआ।

प्रकृति से उद्भूत-प्रसूत सुवा-गीत नारी जीवन से निनादित है। इसीलिए इसमें प्रकृति के साभिप्राय उपमान, प्रतीक व सटीक-सार्थक भाव उपलब्ध होते हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें सुग्गे की चोंच को वक्र कुंदरू फल कहा गया है। शरीर भुट्टे से विनिर्मित है, जिसमें मसूर की आँख शोभित है-

*चोंच तोर दिखत हे लाली कुंदरू रे सुवा मोर,
आँखी दिखय मसुरी के दार।
जोंघरी के पाना सांही डेना संवारे रे सुवा मोर,
सुन लेबे बिनती हमार।*

अवधी के ऋतु गीत

डॉ. विद्या विन्दु सिंह

भारत एक ऐसा देश है, जहाँ सभी ऋतुएँ अपने पूरे वैभव के साथ उतरती हैं। ये ऋतुएँ वर्ष के बारहों महीनों के प्रभाव के रूप में मानव के सुख-दुख की कथा कहती हैं। मन का बारहमासी सुख-दुख, बारहमासा और चौमासा गीतों में किस तरह व्याप्त है, इस अनुभव को बाँटने का प्रयास कर रही हूँ। ये बारहमासी, चौमासी गीत प्रायः सभी लोक भाषाओं में मिलते हैं। संस्कृत और हिन्दी साहित्य में भी इनकी छटा बिखरी है।

प्रकृति एक ओर सहचरी है तो दूसरी ओर पूजनीय- वन्दनीय भी है। पर वन्दनीय होते हुए भी पहुँच से परे नहीं है। प्रकृति के देवता को जब चाहे न्योतकर लोकमन बुला लेता है, बैठाता है, उसको अपने घर-आँगन में उरेह लेता है और उसे अगली ऋतु तक के लिए विदा भी कर देता है। मानव की यह चिर सहचरी प्रकृति अनेकानेक रूपों में मानव को सदा से प्रभावित करती रही है। मनुष्य ने प्रकृति से इतना सीखा है, इतना पाया है कि वह उससे कभी मुक्त नहीं हो सकता।

लोकगीतों में प्रकृति के नित्य बदलते रूप, सौन्दर्य के वर्णन के साथ ही गहरे आंतरिक सम्बन्ध व्यक्त हुए हैं। मनुष्य के सुख में प्रकृति हँसती है, दुख में रोती है, उसे ढाँढस बँधाती है और सहायता करती है तो कभी उद्दीपन करती है। प्रकृति के साथ मनुष्य के इसी गहरे सम्बन्ध के बारे में जो कि लोक साहित्य के बारहमासा गीतों में जगह-जगह व्यक्त हुए हैं, यहाँ चर्चा करना चाहूँगी। प्रातिभ साहित्य

और लोक साहित्य दोनों में ही बारहमासा गीत मिलते हैं। बारहमासा लोकगीतों की परम्परा बहुत प्राचीन है। इसका प्रभाव प्राचीन साहित्य पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। महाकवि जायसी ने पद्मावत में नागमती का विरह-वर्णन इस शैली में किया है। यदि हम उनके प्रकृति-चित्रण की तुलना लोकगीतों के बारहमासा से करें तो हमें उनमें अनेकों भावसाम्य की स्थितियाँ दृष्टिगत होंगी। 'आषाढ़' मास से प्रारम्भ दोनों ही प्रकार के 'बारहमासा' में किया गया है। फिर सभी महीनों का वर्णन हुआ है। 'ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी से बहुत पहले ही लोकगीतों के रूप में बारहमासे प्रचलित थे। जायसी ने उसी परम्परा का अनुसरण अपने काव्य में किया है।' (डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, लोक साहित्य की भूमिका, पृ०-104)

अनेक सन्त कवियों ने भी इस शैली में गीत लिखे हैं। वीरगाथा काल में 'वीसलदेव रासो' का बारहमासा प्रसिद्ध है, जिसमें राजमती का विरह वर्णन है। बारहमासा गीत अवधी में ही नहीं, वरन् सभी लोकभाषाओं में प्राप्त होते हैं। 'बंगला में इन गीतों को 'बारमाशी' कहते हैं। बंगला साहित्य में 'पल्लीगान' में और विजय गुप्त के 'मनसा मंगल' में बेहुला की 'बारमाशी' का वर्णन पाया जाता है। भारतचन्द्र के 'अन्नदा मंगल' में भी बारहमासा उपलब्ध होता है।' (डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ०-105)

मैथिली बारहमासा का महत्त्व राकेश जी के शब्दों में प्रस्तुत है :- 'बारहमासा मैथिली लोक साहित्य की अनुभूत्यात्मक व्यंजना है- बारहमासा की भावधारा पुरानी शराब-सी चोखी और चित्र देवदार-सा स्वच्छ है। पद में श्रृंगार की रोचक सरसता है।'

(राकेश- 'मैथिली लोकगीत' पृ०-360)

वैसे तो यह पावस ऋतु का गीत है, किन्तु हर ऋतु में गाया जाता है। इसकी कई प्रकार की लय है। फागुन के बारहमासे, चौमासे, फागगीतों को लय में, सावन के सावनी गीतों की लय में तथा सोहर व श्रमगीतों के उन्हीं की लय में गाये जाते हैं। कुछ बारहमासा गीतों की स्वतन्त्र लय भी मिलती है। इन गीतों में प्रकृति-वर्णन प्रायः उद्दीपन के रूप में ही हुआ है। प्रकृति विरहिणी की दारुण दशा को किस प्रकार प्रभावित करती है और साथ ही प्राकृतिक परिवेश के अन्तर्गत मानवीय हर्ष-विषाद की स्थितियाँ किस प्रकार विरहिणी की व्यथा-वेदना को घटाते-बढ़ाते हैं, इन सबका विस्तृत विवरण हमें इनमें प्राप्त होता है।

'बारहमासा लोकगीतों की अपनी एक विशिष्ट शैली है, जो कभी मौखिक परम्परा में इतनी लोकप्रिय रही होगी कि आभिजात्य साहित्य को भी उसे अपना पड़ा। सामान्यतः इसे ऋतुवर्णन का ही विकसित रूप कहा जा सकता है। किन्तु बारहमासा की अपनी एक विशिष्ट भाव-परम्परा भी है। इसमें प्रकृति के प्रति एक निश्चित आग्रह सक्रिय रूप से कार्य करता हुआ दिखाई देता है।' (डॉ० गोविन्द चातक- 'गढ़वाली लोकगीत' पृ०-137)

इन गीतों में क्रम से प्रत्येक महीने की विशेषताओं का वर्णन किया जाता है। बारहों महीने के त्योहारों का एवं तत्जन्य प्रभावों का भी वर्णन इन गीतों में होता है। कुछ गीत सुखान्त होते हैं और ग्यारह महीनों की दारुण प्रतीक्षा के बाद प्रियतम से मिलन दर्शाया गया है और कुछ बारहमासा गीत अन्त तक विरह की पीड़ा का निदर्शन करते हैं।

'बारहमासा लोकगीतों का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और इस प्रकार से वह लोक साहित्य की वह सम्पत्ति है जो न मालूम कब से लोक और साहित्य जीवन दोनों को ही अनुप्राणित करते हुए सजीव बनाये हैं।' (डॉ० सरोजनी रोहतगी- 'अवधी का लोक साहित्य', पृ०-209)

इनमें विभिन्न महीनों के सन्दर्भ में वियोगी हृदयों की कष्टप्रद परिस्थितियों का उल्लेख होता है। संयोगावस्था के सुख के साधन विरह के क्षणों को और अधिक कष्टकर बना देते हैं।

बारहमासा

बारहमासा गीतों में विरह की प्रधानता होती है। इनमें सहज और स्वाभाविक उद्गार होते हैं, जो हृदय को छू लेते हैं। इनमें एक विशिष्ट प्रकार का आकर्षण होता है जो संगीतात्मकता द्वारा उद्भूत है। इनमें मुक्तक काव्य का सौन्दर्य विद्यमान है। विरह-वेदना की तीव्रतम अनुभूति, प्रकृति का उद्दीपन रूप इनमें व्यक्त हुआ है। एक ओर जायसी की विरहिणी नायिका 'आषाढ़' मास में पुष्य नक्षत्र के आने पर घर छाने की चिन्ता व्यक्त करती है, उसी प्रकार लोकगीतों की नायिका को भी अपने टपकते हुए घर को देखकर पति का अभाव खटकता है। लोकगीत का उद्घरण प्रस्तुत है -

मास असाढ़ नखत घन गरजै, चुवै गगन से पानी।
रिमिझिम-रिमिझिम बूँदा बरिसै, टपकै महल पुरानी।।
झिर-झिर बरसै झाँझरि, चुवै मोर मकनवाँ।

धना छाँड़ि लोभाना मधुवनवाँ ना ।।
 सावन मास सखी उनमाती, घर-घर करै ठिठोली ।
 आप पिया परदेस सिधारे, घरे जोबन फारै चोली ।
 खुलि-खुलि जाये, चोली के बन्धनवाँ ना । धना
 उमड़ि-घुमड़ि के भादों बरसै, बिकट राति अन्हियारी ।
 दियना बार्यो सेज सँवार्यो, ताक्यो तोहरी खोरिया ।
 चारिउ ओरियाँ से झकोरै, भरि पवनवाँ ना । धना
 मास कुवार कन्त ना आये, ना भेजे एक पाती ।
 चारि मास दिन चितवत बीते, बीता मौसम बरसाती ।
 मैगल हाथी होइगै, गोरी कै जोबनवाँ ना । धना
 कातिक मास रैन फरियानी, पिया गये परदेस ।
 जैसे बूँद सेवाती मा बरिसै, पपिहा मरै पियासा ।
 वैसे चितवाँ बिरही बालम, तोर अवनवाँ ना । धना
 अगहन मास लगन भै जारी, सखि सब चलै गवनवाँ ।
 मै किसमत की मारी अस अनारी होइगै गवने कै बभनवा ना ।
 पूस मास जिय थर-थर काँपै, पिया बिनु भयो बेहाल ।
 पाला परै पात के ऊपर, हमरौ जिया पलाय ।
 अगिया लागै बालम, जरे तोर ब्यौपार ।
 बेदर्दी काहें लाये, मोर गवनवाँ ना । धना
 माघ मास मा अमवा बाँरै, टेसुर लागै कौढ़ी ।
 कब ले लाजि पिया तोरी राखों, घरे देवर चितवै ढोंढ़ी ।
 हमके कहाँ तू भुलान्या, मोर सजनवाँ ना । धना
 फागुन मास सखी सहेलरि, घर-घर खेलै होली ।
 बिन बालम मोहि नीक न लागै, विरहिन कोइल बोली ।
 बोली मारिकै पपिहरा मारे जनवाँ ना । धना
 चैत मास मा सोवति रहाँ, देख्यो स्याम सुरतिया ।
 आँखिया खुलिगै पिया न देखाने, धड़कै लागी छतिया ।
 रतियाँ देख्यो अपने बालम कै सपनवाँ ना । धना
 बैसाख मास तपे यस लागै, नीक न लागै सारी ।
 साइत मोरि लिखा यस टरिगै, बालम भये अनारी ।
 ननदी कहिया घराँ अइहँ तोर बिरनवाँ ना । धना
 लगा महीना जेठ का कहरँन लगे मलमास ।
 सिउ परसाद कहै गोरी आइन मोर बलमुआ ।
 सखि पूरे होइगै बरहोँ महिनवाँ ना ।
 धना पाइ गई अपनो सजनवाँ ना ।

बूदों का रिमझिम बरसना, पुराने महल से जल का टपकना,
 फिर जीर्ण-शीर्ण (झाँझरि) छप्पर से झिर-झिरकर जल-बिन्दु के
 गिरने में प्राकृतिक परिवेश का ध्वनि-चित्र अपना रूपाकार स्पष्ट
 रूप से ग्रहण कर सका है। प्रिय प्रिया को छोड़कर मधुवन पर
 आसक्त हो गया। आषाढ़ में मकान के साथ आँखें भी झरती रहीं।
 सावन के महीने में सखियाँ उन्मत्त होकर घर-घर ठिठोली करती
 फिरती हैं। तुम तो प्रिय परदेश को चले गये, यहाँ घर पर मेरे यौवन
 की बाढ़ सँभाले नहीं सँभल रही है। कंचुकी के बन्धन खुल-खुल
 जा रहे हैं। उमड़-घुमड़ कर भादों बरस रहा है, विकट अँधेरी रात्रि
 है, मैं दीपक जलाती हूँ, सेज सँवारती हूँ और तुम्हारी राह देखती हूँ।
 चारों ओर से पवन के झकोरे भर आते हैं (यहाँ कामनाओं की
 आँधी की ओर संकेत है)। क्वार (आश्विन) महीने में न तो
 प्रियतम आये और न ही पत्र भेजा। चार महीने प्रतीक्षा करते बीत
 गये, बरसाती मौसम भी बीत गया, पर प्रिय नहीं आये। यौवन
 मतवाले हाथी की भाँति चढ़ता ही जा रहा है। कातिक महीने में रातें
 कुछ स्पष्ट हुई (चाँदनी से)। प्रिय परदेश गये हैं। स्वाती की बूँद
 अपने समय से ही बरसेगी। पपीहा प्यास से मर जायेगा, लेकिन
 दूसरा जल नहीं पियेगा। ठीक उसी पपीहे की भाँति मैं तुम्हारी बाट
 देख रही हूँ। अगहन महीने में लग्न प्रारम्भ हो गयी, सभी सखियाँ
 ससुराल को विदा होने लगीं। मेरे मायके का ब्राह्मण लेकिन अनाड़ी
 है, उसने मेरी विदा की तिथि ही नहीं बतायी। पूस महीने में जी
 थर-थर काँप रहा था, प्रिय के बिना मैं बेहाल हूँ। जिस प्रकार पत्तों
 पर पाला (तुषार) पड़ रहा है, उसी प्रकार मेरे मन पर भी। प्रिय तेरे
 व्यापार में आग लगे। विदेश ही जाना था तो मेरा गौना क्यों ले
 आये? माघ महीने में आम बौरा गये, टेसू में कलियाँ लग गयीं, मैं
 कब तक तुम्हारी लज्जा रखूँ। घर पर देवर मेरी ओर दृष्टि डालता
 है। हमें क्यों तुम भूल गये प्रिय? फागुन माह में सखियाँ घर-घर
 होली खेलतीं, मुझे प्रिय के बिना कुछ अच्छा नहीं लग रहा। पपीहा
 बोलकर तो मेरे प्राण ही लिये ले रहा है। चैत्र महीने में प्रिय को
 स्वप्न में देखा। जगने पर सामने उन्हें न पाकर छाती धड़क उठी।
 बैशाख महीने की तपन में शरीर पर साड़ी रख पाना भी अच्छा नहीं
 लगता। मेरे सौभाग्य की बेला टल गयी, प्रिय अनाड़ी हो उठे हैं।
 ननद रानी! कब आयेंगे तुम्हारे वीर? जेठ का महीना लग गया।
 'अधिक मास' लगने के दिन आ गये। लोक कवि कहता है कि
 गोरी के प्रिय आ गये, वह कह उठता है कि अब मेरे बारहों महीने
 पूरे हो गये। प्रिया ने प्रिय को पा लिया।

उपर्युक्त लोकगीत में यद्यपि महाकवि जायसी की पंक्तियों में वर्णित अलंकारों का अभाव है, किन्तु इसमें संगीतात्मकता के साथ-साथ नाद-बिम्ब अपने सहज रूप में उभरा है। लोकगीत की ध्वन्यात्मकता तथा लयात्मकता श्रोता का ध्यान आकर्षित करने में पूर्ण समर्थ हैं। कृत्रिमता का तो इसमें स्पर्श ही नहीं है। हर ऋतु के अलग गीत होते हैं, जो उस ऋतु के सुख-दुःख से जुड़े हैं।

गीतों का विशेष प्रकार है ये बारहमासा गीत, जिसमें बारहों महीनों का सुख-दुःख उसका मन पर प्रभाव व्यक्त होता है। आषाढ़ शुभ महीना है, प्रिय पास नहीं हैं। सावन की अंधेरी रात में आर-पार सूझता नहीं है, भादों की चमकती बिजली, बादलों की गर्जना, प्रिय के बिना किसकी शरण लगे, वह विरहिणी नारी।

एक विरहिणी का मनोरंज्य जो उसकी अभिलाषा-दशा का प्रतिनिधित्व करता है। निम्नलिखित श्रमगीत के बारहमासे में द्रष्टव्य है - इसमें बात प्रायः आषाढ़ से शुरू होती है-

असाढ़हि सुभ महिनवाँ, मोतियन माँग भरी।
 सावन की अन्हियरिया, ना सूझै आरौ न पार।
 भादों की यस बिजुरी, चमकै घन घहराय।
 क्वार कुसल नहिं मेटै, ना केहू आवै न जाय।
 लिखि-लिखि पतिया मैं पठवाँ, वही निरमोहिया के हाथ।
 कातिक कै पुनवासी, सब सखी जाथीं नहाय।
 गंगा नहाये से झुरवाँ, देहु मइया अपनी असीस।
 अपनी असीस मइया बखसौ, जीयै बलमा लाख बरीस।
 अगहन अग्र महिनवाँ, पहिरौं मैं अगरे कै छीट।
 ऊ छिटिया भेजै मोर बलमुआ, जीयै बलमा लाख बरीस।
 पूस म हनै टुसरवा सब सखी पनियाँ क जायँ।
 काँपै लेजुरी गेंडुलवा, काँपै सगरो सरीर।
 माघ कै बसंत पंचमी, सब सखी पूजन जायँ।
 उलटि पलटि मन्दिर चितवै, औ भवना लागै उदास।
 फागुन रसरंग महिनवाँ, खेलौं रँगरसिया के साथ।
 रँगरसिया के हाथ पिचकारी, छिरकै अतर गुलाब।
 चैतहि कै बन टेसू, जौआ हड़ाहर होय।
 बैसाखहि बाँस कटैबै, लेबै बँगला छवाय।
 तेहि बँगला सोवै मोर बलमुआ, देबै अँचरा बिछाय।
 जेठहि कै तपली तपनियाँ, अब मिरुगा रहलौ न जाय।
 असाढ़हि सुभ महिनवाँ, मोतियन माँग भरी।

आषाढ़ में मोतियों से माँग भरकर प्रिय की प्रतीक्षा में नायिका उसकी स्मृतियों में खोई है। सावन की अँधेरी रातें, भादों में मेघ का घहराना और विद्युत का चमकना उसे उद्दीप्त कर देता है। आश्रयहीन भयभीत नायिका आखिर किसकी शरण में अपना संत्रास दूर करे? प्रिय को क्वार महीने में वह पत्र भेजती है। क्वार में प्रतिकूल मौसम, लौकिक विश्वास और व्यस्तता के कारण आवागमन (यात्राएँ) बन्द है, वह किससे सन्देश भेजे? कार्तिक में गंगास्नान करके पति की दीर्घायु का वर माँगती है। अगहन में प्रिय की भेजी हुई आगरे की छीट पहनती है। पूस में पनघट पर रस्सी और घड़े के साथ ही सारा शरीर शीत के कारण कँपकँपा जाता है। माघ की बसन्त पंचमी को मन्दिर की चहल-पहल देखकर उसे अपना गृह और भी अधिक सूना और उदास लगने लगता है। फागुन में 'रँगरसिया' के साथ होली खेलती है। वह पिचकारी से इत्र गुलाब छिड़कता है। चैत्र में वन-वन 'टेसू' फूल गये और 'जौ' पककर कड़े हो गये। बैशाख में वह कामना करती है कि बाँस कटवाकर एक बंगला छवा ले, जिसमें उसका प्रिय सुखपूर्वक सो सके और वह अपना आँचल बिछाकर उसको अपने सान्निध्य का सुख दे सके। जेठ की तपती दुपहरी और मृगशिरा नक्षत्र की भीषण गर्मी तो असह्य होती है।

एक बारहमासा सोहर में भावी पुत्र को सम्बोधित करके वर्ष के ग्यारह महीनों में जन्म न लेने का अनुरोध किया गया है, क्योंकि कार्तिक में तुलसी को दीप-दान करने में बाधा होगी। अगहन में सखियों का द्विरागमन संस्कार होगा। पूस का तुषाराहत वातावरण शीत से कष्ट देगा। माघ में मकर संक्रांति के अवसर पर गंगास्नान से वंचित होना पड़ेगा। फाल्गुन में होली के राग-रंग और चैत्र में रामनवमी के स्नान का आनन्द नहीं मिलेगा। बैशाख में भाई के विवाह में जाना आवश्यक है। जेठ में भीषण गर्मी का कष्ट असह्य होगा। आषाढ़ में गली-गली में मेढक और आकाश में बादलों की गरज सुनकर 'गोतिन' सोहर गाने नहीं आयेंगी। सावन में हिंडोला झूलने और भादों में कजली तीज का व्रत रखने का उत्कट चाव रहता है। अतः कुँवार (आश्विन) में जन्म लेना, जबकि मेरे पिता का घर धन-धान्य से पूर्ण होगा। मायके से उपहार सुविधापूर्वक आ सकेगा।

हे रतनारे होरिलवा! कातिक जिनि जनम्या,
 कातिक तुलसी कै दियना, लेसन कैसे जाबै।

हे रतनारे होरिलवा! अगहन जिनि जनम्या,
 सब सखि जइहैं गवनवाँ, मिलन कैसे जाबै।
 हे रतनारे होरिलवा! पूस जिनि जनम्या,
 पूस महिनै टुसार, जड़ाइ मरि जाबै।
 हे रतनारे होरिलवा! माघ जिनि जनम्या,
 माघ म मकर नहनवा, नहाये कैसे जाबै।
 हे रतनारे होरिलवा! फागुन जिनि जनम्या,
 सब सखि खेलै रंगरेलिया, खेलन कैसे जाबै।
 हे रतनारे होरिलवा! चैत जिनि जनम्या,
 चैतहि परे रामनवमी, नहाये कैसे जाबै।
 हे रतनारे होरिलवा! बैसाख जिनि जनम्या,
 बैसाख म भइया कै बियहवा, नेवत कैसे जाबै।
 हे रतनारे होरिलवा! जेठ जिनि जनम्या,
 जेठ म तपै तपनिया, गरम मरि जाबै।
 हे रतनारे होरिलवा! असाढ़ जिनि जनम्या,
 खोरी-खोरी मेघवा गरजिहैं, गोतिनि नाही अइहैं।
 हे रतनारे होरिलवा! सावन जिनि जनम्या,
 सब सखी झुलिहैं हिंडोलवा, झूलन कैसे जाबै।
 हे रतनारे होरिलवा! भादों जिनि जनम्या,
 भादों तीज कजरिया, भुखल कैसे रहबै।
 हे रतनारे होरिलवा! कुंवार तुहीं जनम्या,
 मैया मोरी धनवा कुटैहैं, बहिन दूढ़ी बन्दिहैं।
 भौजी मोरी पियरी रँगैहैं, बिरन लैकै अइहैं।

बारहमासा फाग गीतों में भी वर्ष के बारहों महीनों के सुख-दुख की अनुभूतियाँ मिलती हैं।

संयोग के जिन क्षणों में जिस पावस ऋतु का उल्लास हृदय में समाता नहीं, वही विरह में उद्दीपन बन जाती है। इसीलिए बारहमासा गीतों में विरह में सबसे दुखदायी इसी ऋतु को कहा गया है। इस वियोग की अभिव्यक्ति केवल प्रिय प्रिया के वियोग तक सीमित नहीं है। इसमें माता-पिता, बहन-भाई और मायके की स्थिति का इतना स्वाभाविक और सजीव चित्र है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। वर्षा ऋतु के विशिष्ट गीत चौमासा और बारमासा गीतों में प्रायः विप्रलम्भ श्रृंगार के ही चित्र अधिक हैं।

लोक जीवन की लय प्रकृति की लय से मिली हुई है और

ऋतु चक्र के साथ मनुष्य का जीवन चक्र भी बदलता रहता है। भारतीय दृष्टि वर्ष को एक जीवन के चक्र के रूप में देखती है और ऋतु परिवर्तन के साथ मनुष्य में भी परिवर्तन होता है। वह बसंत के साथ उत्कण्ठित होता है, वर्षा के साथ भीगता है और शरद के साथ प्रसन्न होता है। अपनी इस उत्कंठा, भीगापन और प्रसन्नता को लोक गीतों के माध्यम से वह व्यक्त करता है-

रतिया-दिनवां तड़पै गोरी कै परनवाँ ना।
 कातिक मास रैनि फरियानी, पिया गये परदेस,
 जैसे बूँद सेवाती म बरसै, पपिहा मरै पियासा,
 वैसे चितवों बिरही बालम, तोर अवनवाँ ना।
 अगहन मास लगन मैं भारी, सखि सब चलै गवनवां
 रोज-रोज में रहिया निहारौ, आवै मोर सुदिनवाँ,
 किस्मत कै मैं मारी, यस अनारी होइगै गवने कै बहनवाँ ना।
 पूस मास जिय थर-थर कांपै, पिय बिनु भयौं बेहाल,
 पाला परै पात के ऊपर, हमरौ जिया पलाय,
 अगिया लागै बालम, जरै तोर व्योपार,
 बेददी काहें लाये मोर गवनवां ना।
 माघ मास मा अमवा बौरै, टेसुर लागै कौंड़ी,
 कब से लाजि पिया तोर राख्यौं, लाँधी नाही ड्योढ़ी,
 हमके कहां तू भुलान्या मोर सजनवां ना।
 फागुन मास सखी सहेलरि, घर-घर खेलें होली,
 बिन बालम मोहि नीक न लागै, बिरहिन कोइल बोली,
 बोली मारिकै पपिहरा मारै जनवाँ ना।
 चैत मास मा सोवति रह्यौं, देख्यौं स्याम सुरतिया,
 सखी हो देख्यौं अपने बालम कै सपनवां ना।
 अंखियां खुल्लिगै पिय न दिखाने, धड़के लागी छतिया,
 कैसे राखैं सखि आपन परनवाँ ना।
 बैसाख मास तपै यस लागै, नीक न लागै सारी,
 साइत मोरि लिखी यस टरिगै, बालम भये अनारी,
 ननदी कहिया घरँ अइहैं तोर बिरनवाँ ना।
 लगा महीना जेठ कै कहरन लगे मलमास,
 साजि सिंगार ठाढ़ि भई गोरी आइन मोर बलमुआ,
 सखि पूर होइगै बरहों महिनवाँ ना।
 धना पाइ गई आपन सजनवाँ ना।

हे प्रिय! तुम प्रिया को छोड़कर मधुवन पर मोहित हो गये।

अर्थात् वहाँ जाकर बस गये। आषाढ़ महीने में नक्षत्र के घन गरज रहे हैं, गगन से पानी चू रहा है, रिमझिम बूँदें बरस रही हैं, पुराने महल की झँझरी से पानी झर रहा है। सावन मास में सखियाँ उन्मुक्त होकर घर-घर ठिठोली कर रही हैं। प्रिय! तुम तो परदेश चले गये, मुझे पपीहा अपनी बोली से मारता है, उधर सास का ताना कैसे सँहूँ। उमड़-घुमड़ कर भादों बरस रहा है, विकट अंधेरी रात है। दीपक जलाकर सेज सँवारती हूँ और तुम्हारी प्रतीक्षा करती हूँ। चारों ओर से पवन झकोर रहा है, लगता है कि मेरा दीपक वह बुझा देगा। महीने में कांत नहीं आये और न तो एक पत्र ही भेजा। चार महीनों के दिन राह ताकते बीते, बरसाती मौसम बीत गया। रात-दिन गोरी के प्राण तड़पते रहे। कातिक महीने में रातें उजली हुई, पर प्रिय परदेश में है। जैसे स्वाती की बूंद के लिए पपीहा प्यासा मरता है, उसी प्रकार मैं। शुभ लग्न में सखियाँ गौने (द्विरागमन संस्कार में ससुराल जाना) जा रही हैं। मैं रोज-रोज राह निहारती हूँ कि कब मेरी विदा का सुदिन आये। पर मैं तो किस्मत की मारी हूँ, मेरे गौने की साइत बताने वाला पंडित अनाड़ी निकला। पूस महीने में जी थर-थर काँप रहा है, उसी प्रकार मेरे भी मन पर पाला पड़ रहा है। हे प्रिय! तुम्हारे व्यापार में आग लगे, जल जाये, जाना ही था तो फिर मेरा गौना क्यों ले आये। माघ मास में आम बौर गये, टेसू में कलियाँ लग गयीं, मैं कब से तुम्हारी लाज ढो रही हूँ। मैंने ड्योढ़ी (घर की देहली) या मर्यादा की देहली नहीं लांघी। मेरे प्रिय! तुम मुझे भूल क्यों गये? फागुन महीने में सखियाँ घर-घर होली खेल रही हैं। उधर पपीहा बोली बोलकर मेरे प्राण ले रहा है।

चैत मास में सो रही थी, सपने में अपने श्याम की सूत देखी। आँखें खुल गयी, प्रिय नहीं दिखे। मेरा हृदय धड़कने लगा। मैंने रात को प्रिय का सपना देखा था। बैसाख महीने में तपन ऐसी तपने लगी कि तन की चूनर भी भार लगने लगी। मेरी शुभ साइत लिखी हुई ऐसी टली कि क्या कहूँ? मेरे प्रिय अनाड़ी हो गये, मन की बात नहीं समझते। हे ननद रानी! तुम्हारे वीर कब आयेंगे?

जेठ का महीना लग गया। मलमास (अधिक मास) कराहने लगा। सब श्रृंगार से सजकर गोरी खड़ी हुई, प्रिय आ गये। हे सखी! बारहों महीने पूरे हो गये। प्रिया अपने प्रिय को पा गयी।

प्रायः बारहमासा में दो प्रकार की स्थिति मिलती है। या तो राम कृष्ण के पूरे जीवन में वनवास या राम हर महीने में वनवास में

कैसे रहे, इसका वर्णन मिलता है। कुछ बारहमासों में स्त्रियों के महीने-महीने में आने वाले पर्वों, व्रत, त्योहारों की स्मृतियाँ रहती हैं। इनमें प्रकृति के अंचल का सहज चित्र मिलता है या फिर साधारण आदमी के जीवन का चित्र। इन गीतों में राम भी साधारण मानव हो गये हैं। लोक साहित्य राम और सीता के प्रत्यक्ष अनुभव से भरा है। कुछ पंक्तियाँ हैं-

चैत अयोध्या जन्में राम, कौसिल्या चनन लिपावैं धाम,
गजमोतियन के चौक पुरावैं, सोने के कलसा धरवावैं,
बैसाख मास रितु बीख समान, तलफै धरती औ असमान।
जइसे जल बिन तड़फै मीन, उहें गति मोर कैकेयी कीन।
जेठ मास लू लागे अंग, वन मा राम लखन सिया संग।
असाढ़ मास गरजें घन घोर, बोलैं पपिहा कुहुकें मोर।
बिलखैं कौसिल्या अवधपुर धाम,
भीजत होइहैं लखन सिय राम।
सावन मा सर सागर नीर, भीजत होइहैं सिया रघुवीर।
भूमि गोजरिया फिरत भुअंग, राम लखन अरु सीता संग।।
भादों मास बूँन बरसत नीर, घरवा छावैं सकल संसार।
बड़-बड़ बूँन जे बरसैं नीर, भीजत होइहैं सिया रघुवीर।
वन मा भटकैं सीता राम, महल अटारी कौने काम।
कुंवार मास सखि धरम के राज,
निति उठि धरम करे संसार।
एहि अवसर जौ रहते राम, बाभन जेवाँइ देते कछु दान।।
आय गये सखि कातिक मास, हमकाँ लागै बिरह के फाँस।
घर-घर दियवा बारैं नारि, हमरी अजोधिया भये आँधियार।
अगहन कुँअरी करत सिंगार, कपड़ा सियावैं सोना के तार।
पाट पितम्बर पुलक समान, कनक सीस बैजन्ती माल।
पूस मास सखि परत दुसार, रैन भइ जस खाँड़ के धार।
कुस आसन कइसे सोइहैं राम, बन मा कइसे करिहैं बिसराम।
आय गये सखि माघ बसन्त,
कइसे जियब हम बिना भगवन्त।
राम चरन मन लगा मोर, बैठि भरतजी हिलावैं चौर।
आय गये सखि फगुआ उमंग, चोआ चन्दन छिरकत अंग।
बैठि भरतजी घोरैं अबीर, केह पर छिरकी बिना रघुवीर।
जे एहि गावे बारहमासा, सो पावे बैकुण्ठे बासा।
गावैं तुलसी अवधपुर धाम, बन से लौटे लछिमन राम।

चैत्र मास में अयोध्या में राम ने जन्म लिया। कौशल्या ने चन्दन से घर लिपवाया, गज मोतियों से चौक पुरवाया, सोने का कलश रखवाया। बैसाख मास की ऋतु विष के समान है, धरती और आसमान तड़प उठते हैं, वैसे ही जैसे कि जल के बिना मछली तड़पती है, वही गति कैकेयी ने मेरी कर दी। जेठ महीने में अंग में लू लगती है। राम-लक्ष्मण-सीता के संग वन में फिर रहे होंगे। राम के चरण कमल के समान हैं, उन्हें नंगे पाँव चलते देखकर धरती और आसमान विह्वल होकर तड़प उठते हैं। आषाढ़ महीने में चारों ओर बादल गरज रहे हैं, पपीहा बोल रहे हैं, मोर कुहक रहे हैं और माता कौशल्या अवधपुर धाम में बिलख रही हैं। यह सोचकर कि मेरे राम-लक्ष्मण और सीता भीग रहे होंगे। सावन में ताल-सरोवर, सागर सब में जल भर जाता है, इन्हें पार करने में सीता और दोनों रघुकुल के वीर भीग रहे होंगे। भूमि पर साँप गोजर फिर रहे होंगे, उन्हीं के बीच में राम-लखन और सीता फिर रहे होंगे। भादों महीने में जल की बड़ी-बड़ी बूँदे बरस रही हैं, सारा संसार इन बूँदों से बचने के लिए घर छवाता है, किन्तु मेरे सिया रघुवीर भीग रहे होंगे। अवध के महल अटारी सब व्यर्थ हैं। हे सखि! आश्विन मास में धर्म का राज होता है, नित्य उठकर सारा संसार धर्म के कार्य करता है। इस अवसर पर यदि राम यहाँ होते तो ब्राह्मणों को भोजन कराकर कुछ दान देते। हे सखि! कातिक मास आ गया, हम पर बिरह के फन्दे लग गये। घर-घर नारियाँ दीपक जला रही हैं, हमारी अयोध्या में अंधकार छा गया है। अगहन में कुमारी कन्यायें श्रृंगार करती हैं, सोने के तार से कपड़ा सिलाती हैं। पीताम्बर वस्त्रों की स्मृति पुलक के समान आनन्द देती है, सिर पर स्वर्ण और गले में बैजयन्ती की माला की स्मृति हमें सीता और राम की याद दिलाती है। पूस महीने में तुषार पड़ रहा है, रात तलवार की धार बन गई है। काटे नहीं कटती, यह सोचकर कि कुश के आसन पर राम कैसे सोयेंगे, वन में कैसे विश्राम करेंगे। हे सखि! माघ की बसन्त ऋतु आ गयी, मैं बिना भगवन्त के कैसे जी पाऊँगी। भरत जी बैठकर चँवर डुला रहे हैं, राम की चरण पादुकाओं पर। राम के चरणों में उनका मन लगा है। हे सखि! फगुआ की उमंग लेकर चोवा चन्दन अंग पर छिड़कता हुआ फागुन आ गया। भरत जी रंग-अबीर घोलते हुए बैठे हैं, बिना रघुवीर के किस पर छिड़कें। जो यह बारहमासा गाता है, वह बैकुण्ठ में स्थान पाता है। तुलसीदास अवधपुर धाम में गा रहे हैं, वन से राम-लक्ष्मण लौट

आये हैं। इस गीत में एक माँ का हृदय किस प्रकार अपने बच्चों के साथ वन-वन घूमता है, इसका सजीव और मर्मस्पर्शी चित्र है।

बारहमासा गीतों में रामायण की पूरी कथा मिलती है। पूरा वर्ष चक्र रामायण की कथा है। राम के जीवन में सुख-दुख का जो चक्र है, वह इन बारह महीनों में प्रतिबिम्बित है। लगता है कि राम कथा इस परिवर्तन के साथ फिर से घट रही हो, दुहरा रही हो। इन बारहमासा गीतों में जो बात विशेष है, वह है कि गाँव का मन ऐसे विशाल सुख-दुख से जुड़ा है जो आँधी-पानी, घाम, बतास से एक विराट सुख-दुःख का संसार बनाता है।

प्रात में कातिक परा है तुसा,
मोहिं छोड़ि कन्त भये बनिजार, मैं न झूलिहौं ॥
अगहन मास जो अग्र सनेह, चलु गोरिया नैहर अपनेह।
पान फूल ले कापड़ चीन्ह,
कन्त बिछोह दई दुख दीन्ह, मैं न झूलिहौं ॥
पूस मास पिया बरत तुहार, मैं बरती पाँचौं इतवार।
नहाय खोरि कै देहुँ असीस, जीवहु कन्त तूँ लाख बरीस।
झूलन तुम सब जाव रे सखी, मैं न झूलिहौं ॥
माघ मास घन परा है तुसा, काँपइ हाथ औ काँपइ गात।
काँपइ पाट तुरंगहि खाट,
मैं नार्ही जैहौं झूलने तुम जाव, मैं न झूलिहौं ॥
फागुन मास बहै फगुनी बयार, तरुवर पात सबै झरि जाय।
जो मैं जनतिउँ फगुनी बयार,
हरि जू को रखतिउँ अंग छिपाय, मैं न झूलिहौं ॥
चैत मास बन फूले टेसु, गोरिया पठवैं पिया को सनेसु।
सुनि कै सनेसु पिया अजहूँ न आय,
दोनों नैना रोय गँवाय, मैं न झूलिहौं ॥
बैसाख मास अति मंगलाचार, आनी है गौना ब्याही है बारि।
छाय जइहैं माड़ौं गाइ जइहैं गीत,
कन्त को पन्थ जोहत मोहिं बीत, मैं न झूलिहौं ॥
जेठ मास बरसाइत होय, बर पूजन निकरीं सब कोय।
आँखि से अंधरा कजरवा क रेख,
फिर-फिर कन्त मोर मुख देख, मैं न झूलिहौं ॥
असाढ़ मास असाढ़ी जोग, घर-घर मन्दिर सजैं सब लोग।
चिरई चिरंगुल खोता लगाय,
हमरा बलमु परदेस में छाय, मैं न झूलिहौं ॥

सावन मास में अधिक सनेह, पिय बिन भूल्यों देह औ गेह।
 पहिरी है कुसुमी उतारी चीर,
 पिया बिन सोहै न माँग सेन्दुर, मैं न झूलिहों ॥
 भादों मास राति अन्हियार, सूझै नाही आर औ पार।
 अपनी महल डरै जिया मोर,
 कन्त बिना कहाँ पावों ठौर, मैं न झूलिहों ॥
 कुंवार मास सब भरे बखार, पिय अगुवानी का त्योहार।
 पहिरी रंग बिरंगी चीर,
 पुलकै मोरा सगरो सरीर, अब मैं झूला झूलिहों ॥

कार्तिक महीने में मेरे मन पर तुषार (पाला) पड़ गया। मेरे प्रिय मुझे छोड़कर व्यापार को चले गये। मैं झूला नहीं झूलूँगी। अगहन महीने में स्नेह आगे होता है। मुझ गोरी को मायके जाना है। पान फूल मिला, वस्त्र-आभूषण मिला, पर प्रिय ने विछोह का दुःख दे दिया। मैं नहीं झूलूँगी। पूस महीने में हे प्रिय! तुम्हारी कुशलता के लिए मैं पूस के पाँचों रविवारों का व्रत रखती हूँ। नहा-धोकर हे प्रिय! मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम्हें लाख वर्ष की आयु मिले। हे सखियों! तुम सभी झूलने जाओ, मैं नहीं जाऊँगी।

माघ महीने में घना तुषार पड़ा है। हाथ काँप रहा है, पूरा शरीर काँप रहा है। पाट (आसन) काँप रहा है, खाट ऐसे काँप रही है, जैसे तुरंग (घोड़ा)। मैं झूला झूलने नहीं जाऊँगी, तुम सभी जाओ। फागुन महीने में फागुनी बयार बह रही है। वृक्षों के सभी पत्ते झड़ जाते हैं। हे फागुनी बयार! यदि मैं जानती कि फागुन में ऐसा होता है, तो मैं हरि जी को अपने अंगों में छिपाकर रखती, जिससे उनके शरीर के ऊपर तुम्हारी बयार का प्रभाव नहीं पड़ता। मैं झूला नहीं झूलूँगी।

चैत महीने में वन में टेसू फूले हैं। गोरी ने प्रिय को सन्देश भेजा है। सन्देश सुनकर भी प्रिय अभी तक नहीं आये हैं। मैं अपने दोनों नेत्र रो-रोकर गँवा रही हूँ। मैं नहीं झूलूँगी। बैसाख महीने में बहुत अधिक शुभ संस्कार होते हैं। जिनका बालापन में विवाह हो गया है, उनका गौना जाना है, किसी का विवाह होना है। माँड़व छाये जाएँगे, गीत गाये जाएँगे। पर मेरा समय तो अपने कान्त की राह देखते बीतेगा। मैं झूला झूलने नहीं जाऊँगी, मैं नहीं झूलूँगी। जेठ महीने में वरअमावस्या (वट-सावित्री) व्रत होगा। वट-वृक्ष की पूजा करने के लिए सभी सुहागिन स्त्रियाँ निकलीं। मेरी आँखों से

बहते आँसुओं के साथ काजल की रेखा अधरों तक आ गयी है। हे प्रिय! तुम लौट आओ, लौट आओ। मेरा मुख देख ले। मैं नहीं झूलूँगी।

आषाढ़ मास में आषाढ़ी योग है। सब लोग घर-घर में मन्दिर सजा रहे हैं। चिड़िया-चिरंगुल भी घोंसले बना रहे हैं। मेरा पति परदेश में बसा है। मैं नहीं झूलूँगी। सावन मास में स्नेह अधिक बढ़ जाता है। प्रिय के बिना देह और गेह (घर) की सुध बिसर गयी। कुसुम रंग की चूनर फीकी लगती है। मैंने उतार दी है। प्रिय के बिना माँग का सिन्दूर भी शोभा नहीं देता। मैं झूला नहीं झूलूँगी। भादों महीने की अँधेरी रात है। आस-पास कुछ भी नहीं सूझ रहा है। अपने महल में मेरा मन डर रहा है। प्रिय के बिना मुझे कहाँ ठौर है? मैं नहीं झूलूँगी।

क्वार मास में सब बखार अनाज से भर गये हैं। प्रिय के आगमन का त्योहार आ गया। मैं रंगबिरंगी चूनर पहन रही हूँ। मेरे सारे शरीर में पुलक भर गयी है। अब मैं झूला झूलूँगी।

कुछ बारहमासे माँ की इस कामना को व्यक्त करते हैं कि पुत्र किस महीने में जन्म ले। क्योंकि वह चाहती है कि मेरा कोई भी पर्व-त्योहार छूटने न पाये।

बारहमासा गीत गाने का समय अधिकतर वर्षा ऋतु है। क्योंकि वर्षा ऋतु कुछ अवकाश की ऋतु है और इसीलिए बसंत से अधिक पावस गाँव के जीवन को उल्लास से भरता है। ये गीत झूले पर झूलते हुए या काम करते हुए और अवकाश के क्षणों में भी गाये जाते हैं।

समय के साथ ऐसा सामंजस्य करने का भाव गाँव के मन में है। जो लोग यह जानते हैं कि गाँव का आदमी मात्र पुरातन पंथी होता है, वह यह भूल जाते हैं कि वह परिवर्तन को निरखता रहता है और उसे जीवन का अभिन्न रूप मानता है।

इन बारहमासों में लोकमन की एक अलग कहानी बनती रहती है, जो छोटे दुख को बड़े दुख से जोड़ती है और विराट उल्लास से अपने छोटे उल्लास को भरती है तथा प्रकृति से मनुष्य को जोड़े रहती है। लोक मन जिस प्रकार से राम और सीता के दुख-सुख के बारहों महीनों को जोड़कर देखता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण और उनके प्रेम में डूबी राधा, रुक्मिणी तथा गोपियों के

संयोग और वियोग के उल्लास और दुख का बारहों महीनों पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसे भी बड़ी ही भावुकता से व्यक्त करता है। गोपियाँ कृष्ण के सखा से कहती हैं कि तुम अब फिर कब आओगे। ऊधो जी! हमारी सुध भूल मत जाना, उन्हें हमारी याद दिलाते रहना-

ऊधौ बाबा लिहे जाया पाती हमरी।
पूस मास तन भीजै ओसिया, माघ म ठाढ़ि अंगनवाँ।
फागुन फाग खेलबै केकरे संग,
केहु न सुनावै स्याम कै अवनवा। ऊधौ बाबा.....
चैत मास बन टेसू फूलै, बैसाख बहै लपकनवा।
जेठ मास वन तपै ताप से,
यहि बिधि बीतत बरहो महिनवाँ। ऊधौ बाबा.....

हे ऊधौ बाबा! (यहाँ उनके ज्ञान उपदेशक रूप पर व्यंग्य है) हमारी चिट्ठी लेते जाना। आषाढ़ महीने के बादल बरसते हैं और सावन में फुहार पड़ती है। भादों मास की अँधेरी रात में श्याम के बिना हमें भवन में नींद कैसे आये। क्वार के महीने में चाँदनी चटक हो जाती है, कातिक में घर-घर में दीपक जलते हैं। अगहन में हमें अच्छा नहीं लगता, हमारे साथ की सखियों का गौना हो गया है। पूस के महीने में ओस में हम भीगते हैं और माघ में शीत में आँगन में खड़ी उनकी प्रतीक्षा करती हूँ। फागुन में किसके साथ रंग खेलें, कोई भी श्याम के आने का संदेश नहीं देता। चैत महीने में टेसू फूल गये, बैसाख में लू चलनी शुरू हो गयी। जेठ के महीने में ताप से तन-मन तपने लगे, इस प्रकार हमारे बारहों महीने बीतते हैं। यह हमारी पाती लेते जाओ।

ऊधौ पाती लेकर गये भी, हमारा संदेश भी कहा होगा, पर श्याम नहीं आये। लेकिन प्रतीक्षा की घड़ियाँ भी बीत जाती हैं और श्याम नहीं आते।

नहि घर आये हमारे स्याम।
मन भीतर बसै मन कै उमंगिया स्याम सुन्दर परदेश।
आवन कहिगै अबहूँ न आये इस निरमोहिया स्याम।
बाट के बटोहिया सनेसु न दीन्हें तबहीं न आये स्याम।
फिर से सनेसु दिहा बाट के बटोहिया तुम बिन सखियाँ बेहाल।
बरहों महीना कै सुख दुख कहिया सुनि के आवैं घर स्याम।
लाग असाढ़ ऋतु आई बरखा, दादुर मोर मचावैं शोर।

तोहरे विरह मा बोली बोलैं सुनि सखि होंय बेहाल।
सावन माह छाया हरियाली, सब सखि गावैं मल्हार।
तुम बिन स्याम हिरदैया झुराने भावै न राग मल्हार।
भादों मास राति अन्हियारी बिजुरी चमकि डरवाय।
जेकरी पिया राति घर नाही मन नाही रहत थिराय।
कुवार मास मा छटि गये बदरा, तन तपै सुरुज कै घाम।
नाहीं आये जुड़वावै घनश्याम।
कातिक माह दिया दिवाली घर-घर दीप लेसायँ।
हमरे मन कै बरै न दियना, दियना से जियरा जराय।
अगहन नाथे नाग कन्हैया, नाही नाथें बिरह हमार।
पूस माह ऋतु आय सीत कै आये न सलोने स्याम।
माघ माह मा सीत जवानी, जियरा मोर डेराय।
अंग-अंग मोर थर-थर काँपै, कहाँ गये चितचोर।
फागुन मास सखि करैं ठिठोली, घोरें रंग गुलाल।
भरि पिचकारी फिरौ चारिउ ओरियां नाही देख्यो नन्द किसोर।
चैत मास वन टेसू फूले मन कै कली न फुलाय।
सूरत मनमोहिनी स्याम कै मधुवन कै सुधि लाय।
मास लाग बैसाख सखी, कर सोर पवनवाँ आयो।
मैं जानी पिय लायी संदेसवा, छोड़ि भवनवाँ धायो।
जेठ माह मा चैन न आवे, तर जरै भूदुर, ऊपर बरै घाम।
भैया बटोहिया कह्यो स्याम से बरहों महीना दुख ताप।

मन की उमंगें उमग-उमग कर भीतर ही रह जाती है, क्योंकि घर पर श्याम सुन्दर नहीं हैं। वे आने को तो कह गये थे, पर अभी भी नहीं आये, ऐसे निष्ठुर हो गये। मेरे मन का हाल बटोही ने सुना था, शायद उसने भी जाकर उनसे नहीं कहा। हे बटोही! तुम सुनो, तुम श्याम से जाकर इतना कहना- हे यदुगई! तुम्हारे बिना सखियाँ कितना दुख सह रही हैं। सखियों का बारहों महीने का सुख-दुख तुम कहना। आषाढ़ मास लगा, वर्षा ऋतु आ गयी। दादुर मोर की बोली हृदय में सालती है, पक्षी भी तुम्हारे दुख से दुखी हैं। सावन महीने में चारों ओर हरियाली छाया है और मल्हार राग गाया जा रहा है। लेकिन सखियों का अन्तर्मन सूख गया है, उन्हें मल्हार राग नहीं भाता। भादों की अँधेरी रात है- मनमीत घर नहीं हैं, बिजली की चमक मन को डराती है, मन स्थिर नहीं रह पाता। क्वार (आश्विन) महीने में बादल छँट गये, तेज धूप निकल आयी, सूरज की आग से देह भी तपने लगी, जुड़ने वाले घनश्याम

नहीं आये। कातिक महीने में दीवाली आ गयी, घर-घर दीप जल गये- पर मन का दीप; मेरा प्रिय नहीं आया, इसलिए दीपक केवल आग से लगते हैं। अगहन महीने में गेंद खेलते हुए श्याम ने काले नाग को नाथा था, पर हमारी विरह की आग को कौन नाथे, हमारा भाग्य ही अब फूट गया। पूस महीने में जाड़े की ऋतु आ गयी, पर सलोना श्याम नहीं आया। अंग-अंग में सिहरन होने लगी, सलोना श्याम नहीं आया। माघ महीने में हेमन्त ऋतु पूरे यौवन पर आ गयी, मेरे हृदय में भय होने लगा। मेरा अंग-अंग थर-थर काँपने लगा, मेरा चितचोर कहाँ गया। फागुन महीने में सखियाँ इठलाने लगीं और रंग-गुलाल उड़ाने लगीं, पर मैं पिचकारी भरकर चारों ओर देखने लगी कि नन्द का लाल तो यहाँ है नहीं, किस पर रंग डालें। चैत महीने में वन में टेसू फूल गये, पर मन की कली नहीं खिली। गिरधारी की वह मनमोहिनी मूरत और मधुवन की यादों में मन खो गया। बैसाख महीना लग गया, पवन शोर करता हुआ लेकर आया, मैं समझी प्रिय का संदेश लेकर पवन आया है, मैं भवन छोड़कर वह संदेश सुनने बाहर निकल आयी। जेठ महीना, रास्ते की धूल तपती भूहर बन गयी। मैं कैसे प्रिय के पास आऊँ। हे बटोही! हमारे बारहों महीने के सुख-दुख का यह संदेश श्याम से कह देना।

श्याम के विरह में सखियाँ एक दूसरे से अपने मन की पीर कहती हैं-

सखी री, बिन स्याम सुन्दर मोहि कल न परै।
 पहिल मास लागे हैं कुवार, हमरे पिया कहौं बइठे दरबार।
 उन बिन सून हमार करेज, जइसे जात रहा सब तेज।
 सखी री मोहि कल न परै।
 मास लाग्यो दूसर कातिक, बिरह-बिथा लागत मोरे तन मा।
 जिया मोरा तलफत प्रान, कउनी बिधि राखउँ पापी प्रान।
 सखी री मोहि कल न परै।
 आयो री सखि अगहन मास, केहि पर राखौं जीवन आस।
 स्याम बिना मोरा सूना धाम, बिन पिउ नीक न एकौ काम।
 सखी री मोहि कल न परै।
 पूस मास पाला परत तुसार, बिन पिया जाड़ा न जाय हमार।
 लपटि कइसे सोई बिन रघुबीर, हनि-हनि मारै करेजवा म तीर।
 सखी री मोहि कल न परै।
 माघ मास रितु लागै बसन्त, सुधिहू न लीन पिया मोरे सन्त।
 लिखौं कइसे पाती को लइ जाइ, को निर्मोही क देइ समुझाइ।

सखी री मोहि कल न परै।
 फागुन मास सब घोरें अबीर, हम कइसे घोरी बिन रघुबीर।
 जरउँ जइसे होली उठत लूक, बिरह अगिनि तन दीन्हा कुँक।
 सखी री मोहि कल न परै।
 चैत मास बन टेसू फुलाय, हमकाँ पिया गये भुलाय।
 चइता कै धुनि लागै बान, राति दिना मोर तलफत प्रान।
 सखी री मोहि कल न परै।
 बइसाख मास गउने कै बहार, दिन सब बीतैं ठाढ़े दुवार।
 कब उइ अइहैं रहे न मन धीर, रहि-रहि उठति करेजे म पीर।
 सखी री मोहि कल न परै।
 जेठ मास बरसाइत होय, बट पूजन निकसीं सब कोय।
 सब सखी करि कै सोलहौं सिंगार,
 माथे कै बिंदिया अजब बहार।
 सखी री मोहि कल न परै।
 असाढ़ मास बहु बरसत मेह, परे फफोला सारी देह।
 बिरह तन जरिगे लागी लूक, बरखा फुहार दीन तन फूँक।
 सखी री मोहि कल न परै।
 सावन मास में हरिअर रूख, मोर कमल गे बिन पिया सूख।
 झूलौं कइसे बिना रघुबीर, तड़पत प्रान न निकसत पीर।
 सखी री मोहि कल न परै।
 भादौ मास गरू गंभीर, हमरे नयन भरि आये हैं नीर।
 जिया मोर डूबै औ उतराय, मोर खिवइया परदेस म छाय।
 सखी री मोहि कल न परै।

हे सखी! श्याम के बिना मुझे कुछ अच्छा नहीं लग रहा है। कुवार(आश्विन) का महीना लगा है। हमारे प्रिय जाने कहाँ हैं, उनके बिना मेरा मन सूना है और ऐसा लग रहा- जैसे मेरे शरीर का तेज जा रहा है। कातिक का दूसरा महीना लग गया, मेरे मन में विरह की व्यथा सता रही है और प्रिय के बिना मेरा मन तड़प रहा है। मैं किस तरह से इस पापी मन को शांत करूँ। सखि! अगहन मास आ गया, मेरे प्रिय नहीं आये, मैं किससे अपने जीवन की आशा रखूँ, क्योंकि श्याम के बिना मेरा घर सूना है और उनके बिना मेरा कोई काम नहीं हो रहा है। हे सखि! पूस में पाला पड़ रहा है, श्यामसुन्दर के बिना मुझे ठण्डक लग रही है। पूस मास की ठण्ड मेरे हृदय में तीर के समान लग रही है। मैं उनके बिना कैसे शयन करूँ। माघ मास में बसन्त ऋतु लग गयी। मेरे प्रिय सन्त हो गये हैं,

उन्होंने मेरी सुध नहीं ली। मैं कबसे पत्र लिख रही हूँ, पर प्रिय तक कौन ले जाये और कौन उस निर्मोही को समझाये। फाल्गुन महीने में सब सखियाँ रंग-अबीर घोल रही हैं। मैं अपने प्रिय रघुवीर के बिना कैसे रंग घोळूँ। मेरा हृदय उनकी विरह में होलिका के समान ऐसे जल रहा है, जैसे लू चल रही हो। विरह अग्नि ने जैसे मेरे शरीर में आग लगा दी है। चैत्र के महीने में टेसू फूल रहे हैं। मेरे निर्मोही प्रिय मुझे भूल गये। चड़ता गीतों की धुन हृदय में बाण सी लगती है। मेरे प्राण तड़प रहे हैं। बैसाख मास में गौने जाने के बहार की धूम है। मैं अपने गौने के संदेश की प्रतीक्षा में दिन भर बाहर खड़ी रहती हूँ। मेरा गौना कराने कब आयेंगे। मेरे हृदय में रह-रहकर कसक उठ रही है। ज्येष्ठ माह में वट सावित्री व्रत होता है, सब सखियाँ वटवृक्ष की पूजा करने के लिए सोलहों शृंगार करती हैं, उनके माथे की बिंदिया देखते ही बनती है। आषाढ मास में मेघ बहुत बरस रहे हैं, पूरे तन में फफोले पड़ गये हैं। उनकी विरह मेरे तन में लूक की तरह लग रही है। सावन मास में सभी वृक्ष हरे-भरे हो गये, लेकिन मेरे मन का कमल प्रिय के विरह में सूख गया। मैं अपने रघुवीर के बिना झूला कैसे झूळूँ। प्राण तड़प रहे हैं। पीड़ा नहीं निकल रही है। भादों मास कठिन और गम्भीर होता है। मेरे नयनों में नीर भर आये हैं। मेरा मन डूब-उतरा रहा है। प्रिय के बिना कौन मेरी नाव पार लगायेगा। प्रिय तो परदेश में हैं। हे सखि! मुझे चैन नहीं पड़ रहा है।

चौमासा

जिन गीतों में छह महीनों का वर्णन होता है, उन्हें छमासी तथा जिनमें केवल चार महीनों का वर्णन होता है, उन्हें चौमासी गीत कहते हैं। इनमें प्रायः वर्षा ऋतु के चार महीनों का वर्णन होता है। चौमासा गीत प्रायः वर्षा ऋतु के चारों महीनों में गाये जाते हैं।

लिखित साहित्य में षड्ऋतु वर्णन की परंपरा है, पर वाचिक परंपरा में बारामासा, चौमासा गीतों के विशेष प्रकार हैं। अवधी-भोजपुरी लोक के बारामासा से प्रभावित होकर जायसी आदि कवियों ने बारहमासों का वर्णन करते हुए प्रकृति को जीवन से जोड़ा, साधारण जीवन का चिन्तन किया, तभी विरह का ऐसा वर्णन कर सके। नागमती विरह में व्याकुल होकर कहती है-

*पुष्य नखत सिर उप्पर आवा। हौं बिन नाह मंदिर कौ छावा।
बरसहिं मेघ झकोरि-झकोरी। मोर दुइ नयन चुवै जस ओरी।*

यहाँ साधारण से साधारण स्त्री और रानी-महारानी तक अनुभव के एक बिन्दु पर खड़ी दिखायी देती हैं। तभी रानी नागमती की विरह वेदना भी जायसी के शब्दों में इस तरह व्यक्त हुई। मघा नक्षत्र खूब झकोरकर बरस रहा है और उसी के साथ-साथ मेरे दोनों नयन भी बरस रहे हैं, जैसे ओसारे की ओरौनी टपकती है। पुष्य नक्षत्र सिर पर आ पहुँचा है। मेरे पिया परदेस में हैं। कौन मेरा घर छवायेगा?

लोक के चौमासा में भी प्रिया इसी चिन्ता से चिंतित है-

*घना छोड़ पिया लोभान्या मधुवनवां ना।
बढ़त असाढ़ नखत घन गरजै चुवै गगन से पानी।
रिमझिम-रिमझिम बूँदा बरसै, टपकै महल पुरानी।
झिर-झिर बरसै झांझरि, चूवै मोर मकनवां ना।
धना छोड़ि पिया लोभान्या मधुवनवां ना।
सावन मास सखी उनमाती, घर-घर करै ठिठोली।
आप पिया परदेस सिधारे, पपिहा मारै बोली।
कैसे सहै अब सासू के तनवां ना।
उमड़ि-घुमड़ि कै भादों बरसै, विकट राति अन्हियारी।
दियना बार्यों सेजि संवार्यों, ताकौं राहि तुहारी
चारिउ औरियों से झकोरे भरि पवनवां ना।
मास कुआर कंत ना आये, ना भेजै एक पाती।
चारि मास दिन चितवत बीतै, बीता मौसम बरसाती।
रतियां दिनवां तड़पै गोरी क परनवां ना।*

हे प्रिय! तुम प्रिया को छोड़कर मधुवन पर मोहित हो गये। अर्थात् वहाँ जाकर बस गये। आषाढ महीने में नक्षत्र के घन गरज रहे हैं, गगन से पानी चू रहा है, रिमझिम-रिमझिम बूँदें बरस रही हैं, पुराने महल की झांकरी से पानी झर रहा है। तेज वर्षा में क्या होगा? सावन मास में सखियाँ हर्ष से उन्मत होकर घर-घर ठिठोली कर रही हैं। प्रिय तुम तो परदेश चले गये, मुझे पपीहा अपने बोलों से मारता है। उधर सास का ताना, कैसे और कितना सहूँ? उमड़-घुमड़कर भादों बरस रहा है, विकट अंधेरी रात है। दीपक जलाकर सेज संवारती और तुम्हारी प्रतीक्षा करती हूँ। चारों ओर से पवन झकोरे हैं। आश्विन माह भी बीत गया, कंत न आये, न तो एक पत्र ही भेजा। चार महीनों के दिन राह ताकते बीते, बरसाती मौसम बीत गया। चार महीने रात-दिन गोरी के प्राण तड़पते रहे।

किसी तरह बीती गर्मी, वर्षा ऋतु आ गयी। सावन भादों की अंधेरी रातें, मेंढकों की टर्-टर् का शोर, मोर की दर्द भरी कूक वियोगिनी को दुख देती हैं। मकान चू रहा है, पिया बिना कौन छवावै। फागुन के बारामासा गीत का उदाहरण है -

सावन भादों के अन्धियारी,
तेहि पर डोलै जुल्मी बयारी, यादें सभी सतावै
सारी रैन दादुर करै सोरवा, होत भोर पिहके बन मोरवा।
टपकै बुनरा भीजै चदरा,
बालम बिना कौन छवावै सजनवाँ न आवै।

विरह में शरीर सूख गया, नयन पीले हो गये, सारी धरती सूनी लगती है-

सुनहु सखी विरहिन कै लीला,
तन भै झूर नयन भै पीला।
प्रीतम बिन लगै सून धरा।

निराशा और दुख के कारण वह खीझकर अपना माथा पीटकर भाग्य को ही दोष देती है-

विरिज पिया बिनु हमें तनिकौ न भावत,
दूनौ हाथ माथ दे मारी, घटा घेरे कारी।

अवधी में चौमासी गीतों में भी विरह की पीड़ा ही अधिक मुखर हुई है। प्रिय के बिना श्रृंगार व्यर्थ है। प्रकृति विविध रूप धारण कर वियोगिनी को भयभीत करती है। कभी सावन की हरियाली बनकर, कभी भादों की अँधियारी बनकर -

आई बरखा की बहरिया, अरे साँवरिया।
पहिला मास असाढ़, गोरी करथी विचार,
पिया नहीं घर हमार, कैसे करूँ मैं सिंगरिया, हरे साँवरिया।
दूजे सावन की हरियाली, सासू लागै डर भारी,
नहीं मोरा है संघारी इहाँ आई बा बहरिया, हरे साँवरिया।
तीजे भादों कै अन्हियारी, हाथ सूझै न पसारी,
तेहपै झींगुर कै झनकारी,
चौमुख खुली बा किंवरिया, हरे साँवरिया।
चौथा मास कुंवार, पिया मोरा है गँवार,
फिर कीना है बिगाड़, पार के करी उमिरिया, हरे साँवरिया।

आषाढ़ वर्षा ऋतु का प्रथम महीना है। गोरी सोच रही है, मैं किसके लिए श्रृंगार करूँ, मेरे प्रिय तो यहाँ हैं नहीं। दूसरा चिन्तनीय विषय है कि सावन की हरियाली देखकर मुझे भय हो रहा है, मेरा संगी मेरे पास नहीं है, यहाँ बहार आयी है। यह सावन की हरियाली, यह बहार मेरे मन में प्रिय की विरह-वेदना को और तीव्र करती है, मैं इसका सामना कैसे करूँ? तीसरी चिन्ता है भादों की अँधेरी रातें, हाथ को हाथ पसारे नहीं सूझता, ऊपर से झींगुरों की झनकार, चारों ओर खुली खिड़कियाँ। चौथा महीना क्वार आश्विन का, मेरा प्रिय गँवार है, उसने सभी से सम्बन्ध बिगाड़ लिये हैं, मेरी उम्र कैसे पार होगी, कौन पार लगायेगा।

जो प्रिय की वेदना न समझे, वह गँवार ही तो है। उसे परिजनों से भी सहानुभूति की आशा नहीं है, क्योंकि पति सभी को रुष्ट कर चुका है, उसकी चिन्ता स्वाभाविक है।

इन चौमासा गीतों में जिस महीने में प्रकृति का जो रूप होता है, उसी का स्वाभाविक वर्णन उसके प्रभाव के साथ किया गया है। चैत्र की वासन्ती मादकता में प्रिय की सुध स्वाभाविक है -

चैत मास बन टेसू फूले, चम्पा लाल गुलाल।
जबसे गये पिया विदेसवाँ, नहीं भेजे कुछ हाल।
मैं तो पड़ी रहूँ बेहाल, कैसे धरौँ सखी धीर।
बैसाख बाँस कटैहौँ सखिया, रचि-रचि मन्दिर छवाय
चौमुख खिड़की खोलि कै बैठौँ, आवै जूड़ बयारि।
जी की सारी जलन मिटि जाय, कैसे धरौँ सखि धीर।
जेठ मास मा तपै भूभुरी, भीजै तन की चीर।
पिया विदेसी घर ना आये, उठै कलेजे पीर।
मन की सारी तपन बुझाय, कैसे धरौँ सखि धीर।
असाढ़हि मेह झमाझम बरिसै, ओरी से चूवै पानी।
अँखिया बरसैं अँचरा भीजै, तबौ न जलन सिरानी।
कैसे धरौँ सखि धीर।

चैत महीने में वन में टेसू फूल उठे, चम्पा शर्म से लाल हो उठी, पर मेरे प्रिय जब से गये, अपना कोई हाल-चाल नहीं भेजा। पर गृहिणी का मनोराज्य देखिए कि वह वैशाख में बाँस कटाकर सुन्दर गृह-निर्माण की योजना बनाती है, जिसकी खुली खिड़कियों से आती हुई शीतल बयार उसके मन प्राण को शीतल कर देगी। 'ज्येष्ठ' की भीषण गर्मी के साथ प्रिय-वियोग की ज्वाला का ताप

कैसे सहन करे वह? आषाढ़ की अनवरत वर्षा और नेत्रों का अश्रु-प्रवाह कुछ भी मन की तपन को शीतल करने में समर्थ नहीं।

इन पंक्तियों की मार्मिकता जायसी की निम्नलिखित पंक्तियों से किसी भी दृष्टि से कम नहीं -

सावन बरस मेह अति पानी, भरनि परी हों बिरह झुरानी।

जायसी - पद्मावत, नागमती वियोग खण्ड-पृष्ठ 101

अभावों की अटूट शृंखला जीवन भर मानव-मन को व्यथित करती रहती है। प्रसन्नतादायक ऋतुओं एवं पर्वों के अवसर पर ये अभाव और भी उग्र रूप से मन को विह्वल बना देते हैं। आषाढ़ की जलवृष्टि वियोगिनी को व्यथित कर देती है। उसे पुत्र का सुख भी नहीं प्राप्त है, पति भी दूर है, मायके में माता-पिता का अभाव है। भाई है तो, पर ससुराल में रहता है। अतः बहन की खोज-खबर नहीं लेता। 'चूनर' जीर्ण-शीर्ण और रंगहीन हो गयी है, कौन लाकर दे नयी चूनर। कितना स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण नारी-मन का एक चौमासे में द्रष्टव्य है, जिसका जीवन अभावों से आपूरित है -

पहला मास असाढ़ बरखा भई है अपार।

गोदी नहीं मोरे बार, केकर करौ इन्तजरिया, हरे साँवरिया।

दूजे सावन झरि लाय, पिया पाती न पठाय।

झूला हम्मे के झुलाई, सूनी बाटै मोर महलिया, हरे साँवरिया।

तीजे भादों की अन्हियारी, नइहर बाप ना महतारी।

भइया बसैं ससुरारी, धूमिल होइगै पियरिया, हरे साँवरिया।

चौथा मास कुवार, पिया मोरा बनजार।

जी मा आवैं न करार, पार के करी उमिरिया, हरे साँवरिया।

वर्षा ऋतु का प्रथम महीना आषाढ़ का, जिसमें अपार वर्षा हुई। गृहिणी का प्रिय तो विदेश में है ही, गोद में बालक भी नहीं है, वह किसकी प्रतीक्षा करे, कैसे जिये? दूसरा महीना सावन का उसमें भी आँसुओं की वर्षा की झड़ी लग गयी है। प्रिय ने पत्र तक नहीं भेजा। हमें झूला कौन झुलाये? महल तो सूना पड़ा है। तीसरा महीना भादों की अँधेरी रातों का आ गया। मायके में माता-पिता भी नहीं कि खोज-खबर लें। एक भाई था वह भी अपनी ससुराल का बाशिन्दा हो गया। पियरी धूमिल (रंगहीन पुरानी) हो गयी, कौन लाकर नयी दे? चौथा महीना क्वार (आश्विन) का है। गोरी का प्रिय बनजारा बनकर व्यापार करने चला गया। मन में चैन नहीं कौन पार करेगा उम्र, जीवन।

आषाढ़ का आगमन विरहिणी के हृदय में कामनाओं का संचार करता है। सावन का आगमन साजन के वियोग की पीड़ा बढ़ाता है, वह किसके लिए शृंगार करेगी। भादों की अँधियारी में प्रियतम का वियोग भी उसके हृदयाकाश में अन्धकार फैलाता है। इस प्रकार इन गीतों में प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित है। पूरा का पूरा चौमासा और बारहमासा रिशतों का एक इन्द्रधनुष बनकर छा जाता है।

इन बारहमासा और चौमासा गीतों में लोकजीवन की सहज भावभूमि पर पूरे वर्ष के अभाव और सुख एक अलग कहानी बनाते-सुनाते रहते हैं। यह कहानी छोटे दुख को बड़े दुख से जोड़ती है और अपार उल्लास से अपने छोटे उल्लास को भरती रहती है तथा प्रकृति से मनुष्य को जोड़े रखती है।

मंगल थापांकन

डॉ. महेन्द्र भानावत

हाथ की अंगुलियों के ठप्पे देकर दीवाल पर जो चित्र उकेरा जाता है, वह 'थापा' कहलाता है। लोकमानस में थापे की यह परम्परा न केवल राजस्थान में अपितु देश के अन्य विविध अंचलों में भी बड़े गहरे विस्तार के साथ परिव्याप्त है। इन थापों के साथ जो व्रत-कहानियाँ, पूजा-अनुष्ठान, फलदायिनी मंगल भावनाएँ और विश्वास-मनौतियाँ जुड़ी हुई हैं, उनकी जड़ें पौराणिक-प्रागैतिहासिक काल तक की लम्बी पट्टी को पगलाई-परसी हुई हैं। इससे लगता है कि इन परंपराओं में कितनी प्राणवत्ता, जीवनशक्ति, चेतनरूपता, मंगल-सौभाग्य, रसपरकता, निरन्तरता और न खूटने-लूटने का लबलबापन है, जो समाज एवं परिवार की संतुष्टि पर बीते-आगे की कई पीढ़ियों को आस्था का अमरत्व दे जीवन का बल-संबल बनता है।

थापों में प्रयुक्त गोबर

गाय हमारी माता और उसका गोबर हमारे धर्म-मंगल का प्रसाद है। राष्ट्र की यही धन-संपदा है। इसी गोबर से न केवल तन के कई रोग निरोग बनते हैं, अपितु मन का कषैला मैलापन भी दूर होता है। इसलिए सभी थापे गोबर से ही उकेरे-उभारे जाते रहे हैं। गोबर की मांगलिकता-पवित्रता आज भी उसी रूप में प्रतिष्ठित है। गोबर के गूंगे-गोगे, गोबर के गोरधनजी, गोबर के नाग-नागिन, गोबर के संकरातड़े, गोबर के होली माता के विविध आभूषण बडूल्ये-बड़कुल्ले, छोरियों की गोबर की डेडकमाता, श्राद्धपक्ष में सांझी के गोबर से बने परिकल्पन, भाईदूज के गोबर के दूज, गोबर के गणगौर ईसर, अक्षय तृतीया पर गोबर के बने भूट्टे, गोबर-पीली की लिपाई, गोबर-लीद के कोठे-कोठी, ठहरी बरसात को बुलाने बावत गोबर के बने उल्टे इंदर-इंदराणी, बरसात में कवेलू के घरों पर पानी रोकने के लिए

रागोबर (राख मिश्रित गोबर) का लीपन, गोबर गणेश, गोबर के खाद-कंडे और गोबर-गोबरी नामकरण। गोबर के कितने प्रयोग-उपयोग हैं। गोबर अपने आप में एक पुराण और पुराख्यान है।

थापों का विस्तार

थापा शब्द का भी जब अर्थ विस्तार हुआ तो केवल अंगुली का ठप्पा ही थापा न रहकर पूरे हाथ का चिन्ह, मुट्टी के भाँत-भाँत के ठप्पे तथा अंगुलियों की विविध कला-कोरी भी थापे में समाविष्ट हो गई।

गोबर के थापे में निश्चय ही समय अधिक देना पड़ता था। जब समय का मूल्य समझा जाने लगा तो गोबर की जगह अन्यान्य रंग-उपकरण तो आये ही, परंतु इनके साथ ही अंगुलियों का स्थान भी अन्य साधनों ने ले लिया। तदनुसार लकड़ी की सीक पर रूई लपेटकर फोये-फोये चित्र चितराये जाने लगे। गेरू में इस रूप में आज भी गाँवों में सरवण के भाँत मांडे जाते हैं। शहरों में तो सरवण के बने बनाए पाठे, कागज पर कोरे गये चितरावण मिल जाते हैं। अतः सभी ओर इस दिन एक जैसे थापे दीवाल पर चिपकाये हुए नजर आते हैं। इससे थापों की जो विविधता तथा कलात्मक खासियत थी, वह जाती रही। दीवाली पर लक्ष्मीजी के तथा विवाह पर गणेशजी के थापे अब नहीं के बराबर देखे जाते हैं। बाजारों में इनके बने-बनाये, कोरे-कोराये चित्रों की बजाय छपे-छपाये चित्र मिलते हैं।

थापों में प्रयुक्त रंग-उपकरण

थापों में विविध रंगों का प्रयोग, उनकी कलात्मकता तथा अंकन की बारीकी बाद की है। अपनी सर्वेक्षण यात्राओं में मैंने कई बूढ़ी-ठाड़ी महिलाओं से सुना कि अपने प्रारंभिक काल में उन्होंने जिन महिलाओं को थापे मांडते देखा हैं वे आज की तरह नहीं मांडती थीं, बल्कि उभारती थीं। यह उभार दीवारों पर गोबर से ही आ सकता था। इसके लिए हाथ के अंगूठे के पासवाली दो उल्टी अंगुलियों के बीच गोबर रखकर थापा उकेरा जाता था।

तब के थापे अपेक्षाकृत छोटे तथा सरल सपाट होते थे और आज के थापों की तरह उनमें बेलबूटे, फूल-पत्तियाँ, डाबेडोर नहीं होकर मुख्य प्रतीक और बिंदियों का प्रयोग ही अधिक रहता था, परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य विकसित हुआ, उसकी दृष्टि बाह्य सौंदर्य

तथा रंगरूप पर गई तो उसने इन थापों में परिवर्तन-परिवर्द्धन करना प्रारंभ कर दिया। फलतः गोबर की जगह सिंदूर, हिंगलू, कुंकुम, हरा, नीला, आसमानी, काला, पीला रंग, मेहंदी, दूध, काजल, हल्दी, गेरू, ऐपण, घी आदि ने ले लिया है। ये रंग-उपकरण शुभ मांगलिक और विघ्नों के नाश करने वाले माने जाते हैं।

लाल रंग शक्ति और सौभाग्य का प्रतीक है। हनुमानजी के ऊपर चढ़ा सिंदूर (मली) लोग अपने सिर की चोटी पर लगाते हैं तथा लाल रंग की लंगोट पहनते हैं। देवी-देवताओं के झंडे-झंडी भी या तो पूरे लाल रंग के होते हैं या अन्य रंगों में यह रंग प्रधानता लिए रहता है। जादू टोनों में भी यही रंग विशेषतः प्रयुक्त होता है। सिंदूर के तो कई प्रयोग-उपयोग हैं। यह भारी, गरम तथा टूटी हड्डियों को जोड़ने वाला कहा गया है। घाव भरने, कोढ़, खुजली भगाने तथा विष को हरने की भी इसमें क्षमता होती है। अन्य अनेक व्याधियों में भी इसका उपयोग किया जाता है। अधिकतर देवी-देवता सिंदूर के रंग से ही रंगे जाते हैं। शक्ति, शौर्य, बलिदान के साथ-साथ यह रंग क्रांति का सूचक भी है।

कंकू (कुमकुम) बड़ा मांगलिक माना गया है। बालजन्म से लेकर मरण तक के प्रत्येक संस्कार में इसका प्रयोग किया जाता है। अधिकांश थापे कंकू से ही मांडे जाते हैं। 'कंकू के पगल्ये आना (जन्मना) और कंकू के पगल्ये जाना (मरना)' हमारे यहाँ कहावत भी है। हरा रंग हमारी हरीतिमा, समृद्धि, स्वस्थता एवं चंगेपन का सूचक है। हरा सुग्गा, हरा मोर, हरा खेत, हरा खलिहान और जो हरा सो भरा (हराभरा), ये सब हमारे सुख के आधार हैं। इनकी पूर्णता, प्रचुरता है तो तबियत हरी की हरी रहती है। प्रकृति का सूचक भी यही रंग है।

पीला रंग भी बड़ा शुभ माना गया है। वैवाहिक जीवन में प्रवेश करने को 'हाथ पीले करना' कहा जाता है। विवाह में बना-बनी के हल्दी पीठी की जाती है। पड़ चित्रकार अपनी पड़ें बनाते समय सर्वप्रथम पीले रंगों में ही चित्रों को चांकने की रस्म अदा करते हैं, तत्पश्चात् अन्य रंगों का प्रयोग किया जाता है। पीलिया, पीले रंग का एक विशेष प्रकार का ओढ़ना होता है, जो पुत्रजन्म के पश्चात् प्रथम होली पर पीहर वालों की ओर से लड़की को भेजा जाता है, जिसे झलमा पूजने तथा होली की पूजा करते समय ओढ़ा जाता है। पीली मिट्टी भी बहुत शुभ मानी जाती है। बारात को सीख

देते समय वधू पक्ष की ओर से वर के पिता को हल्दी रंगा नारियल दिया जाता है, जो पीला नारेळ कहा जाता है। रक्षाबंधन के पूर्व जो फूली बांधी जाती है, वह भी हल्दी में रंगकर ही बांधी जाती है। पहले हल्दी रंग का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। हल्दी जैसे भी बड़ी गुणकारी मानी गई है। हमारे यहाँ लड़कियों में हलदबाई नाम भी रखा जाता है। सोना भी पीला होता है जो समृद्धि का सूचक है। आदिवासियों में इस रंग का विशेष महत्त्व है। गीतों में हल्दी का रंग सुरंग कहा गया है—म्हारी हलदी रो रंग सुरंग।

देवी-देवताओं की पूजा में दूध का होना आवश्यक है। यह बड़ा पवित्र माना गया है। पूरवज की मूर्त (प्रतिमा) को रातिजगे पर दूध से धोई जाती है। जब-जब उनकी तिथि आती है, तब-तब घर में सब तरफ दूध का छीटा दिया जाता है। नागपंचमी के दिन साँपों को दूध पिलाया जाता है। इससे पूरे वर्ष भर किसी तरह के अनिष्ट की आशंका नहीं रहती। देवी-देवताओं की पूजा में प्रायः खीर बनाई जाती है। यह खीर दूध-चावल की होती है। मंदिरों में देवताओं पर चावल चढ़ाये जाते हैं। विशिष्ट धार्मिक अवसरों पर चावल के सातिये तथा अन्य मांडने मांडे जाते हैं। चावल में पानी मिलाकर पीसने से जो महीन घोल बनता है, वही ऐपन कहलाता है। शीतला माता को दही-चावल का घोल-ओळिया अधिक प्रिय है। विवाह में शादी या अन्य अवसरों पर जब किसी के कंकू का तिलक लगाया जाता है, तो उसके साथ चावल भी लगाया जाता है।

कोयला, काजल और काला रंग भी अपनी विशेषताएँ लिए हैं। यह रंग अन्य रंगों की तरह अपना अस्तित्व नहीं खोता, अपितु अन्यो को अपने में समेट लेता है। यह रंग शक्ति प्रदाता है। काजल आँख में लगाया जाता है। इससे आँखें निरोग रहती हैं। पूजापे की थाल में कंकू के साथ काजल, मेहंदी भी रखी जाती है। नागदेव, शेषनाग भी काले ही हैं, जिन्होंने समस्त पृथ्वी का भार अपने ऊपर ले रखा है। जहाँ कोयला कल-कारखानों को चलाता है, वहाँ काजल आँखों को और आँखें मनुष्य को चलाती हैं। बच्चे जब तक बड़े नहीं हो जाते, उनकी आँखों में प्रतिदिन काजल

आंजा जाता है। काला रंग अशुभ को मिटाने वाला भी है। काले चिन्हों से किसी की नजर नहीं लगती। बच्चों के काली बिंदी तथा हाथ-पांवों में काले मामे (टीपके) लगाए जाते हैं। नये बने भवन पर काली हंडिया इसीलिए लगाई जाती है।

मेहंदी सुख सुहाग की प्रतीक है। गुणकारी भी है। इसके कई गीत प्रचलित हैं। प्रत्येक वार, त्योहार, उत्सव पर यह गरीब-अमीर सभी नारियों का आवश्यक सिणगार है। घी की उपयोगिता, अनिवार्यता और पवित्रता तो सर्वविदित ही है।

थापादातृ नारियाँ



नारियाँ हमारे यहाँ गृहदेवियाँ, गृहलक्ष्मियाँ हैं, इसलिए गृह की सारी ऋद्धि-सिद्धि, चिंता-चातुरी का भार-सोच उन्हीं के जिम्मे रहता है। पुरुष केवल अर्जन करता है, बाकी सर्जन-विसर्जन का सारा कार्य तो इन्हीं देवियों के ही हाथ में रहता आया है। सारे के सारे धर्म-कर्म महिलाएँ ही करती हैं और इनके लिए प्रारंभ से ही लड़कियाँ तैयार की जाती हैं। उनके लिए उनके जैसे छोटे-छोटे कलात्मक व्रत-अनुष्ठान एवं मंगलदाता कलात्मक चित्रण निर्धारित किये हुए हैं। जहाँ लड़कियाँ

अच्छा, योग्य वर प्राप्त करने तथा अच्छी गृहस्थी बसाने की भावना से इन्हें करती हैं, वहाँ परिणिताएँ अखंड सुहागिन बनी रहने की कामना संजोये रहती हैं। इसलिए सारे के सारे थापे, व्रत-अनुष्ठान, उद्यापन औरतों के लिए हैं। पुरुष की भागीदारी इनमें उतनी नहीं है। इन्हें सधवाएँ ही करती हैं, विधवाएँ नहीं। इन थापों के अतिरिक्त हमारे यहाँ थापों की एक और परंपरा विकसित हुई। सती होने वाली स्त्री जब अपने घर से प्रस्थान करती तब प्रवेशद्वार के दोनों तरफ कुंकुम के थापे लगाती थीं। आगे जाकर ये थापे पूजनीय बन गये। राजस्थान तथा गुजरात में कई सती मंदिर हैं, जहाँ उनके थापे मिलते हैं।

हाथ के थापे

विशिष्ट त्योहारों तथा किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर कुंकुम

तथा विविध रंगों की हाथ की जो छाप-थाप दी जाती है, वह भी थापा कहलाती है। राजस्थान के अनेक अंचलों में शादी-विवाह के अवसर पर वर-वधू पक्ष के लोग विदाई के समय आपस में होली खेलते हैं। इस अवसर पर मुख्यतः वधू पक्ष की ओर से बारतियों की पीठ पर केसरिया कसूम्बा अथवा कुंकुम का थापा लगाया जाता है। इसी प्रकार ब्याईजी को पगड़ी बांधते समय उनकी पीठ पर सफेद पछेवड़ी ओढ़ाकर कुंकुम का थापा दिया जाता है। यह थापा ब्याणजी के हाथ का होता है। लड़की की ओर से इस अवसर पर मिष्ठान्न भरा कलश दिया जाता है, जो भांडा कहलाता है। इस कलश का मुँह सफेद कपड़े से ढके लच्छे से बांध दिया जाता है। इस कपड़े पर भी कुंकुम का थापा लगाया जाता है। दीवाली के दूसरे दिन गाय-बैलों को पूजते समय भी उनकी पीठ पर मेहंदी तथा कुंकुम के थापे लगाये जाते हैं।

विवाह के लिए जो मंडप तैयार किया जाता है, उसके बाँसों पर भी मंगेती (जिस लड़की का विवाह होने वाला है) के हाथ का चावल के घोल का थापा दिलाया जाता है। नैनीताल की ओर दीवाली पर लक्ष्मी प्रवेश के लिए घर का मार्ग लाल-सफेद रंगों से मुट्टी का थापा लगाकर तैयार किया जाता है। विवाह पर कहीं-कहीं वर द्वारा घी से तथा वधू द्वारा मेहंदी से हाथ द्वारा थापा थापने का प्रचलन है। मकान की पहचान के लिए भी थापों का प्रयोग मिलता है। निहालदे सुलतान नामक गाथा में दूती मकान की पहचान के लिए द्वार पर ऊँट के मांस का थापा लगा देती है।

एकरूपता के भाव

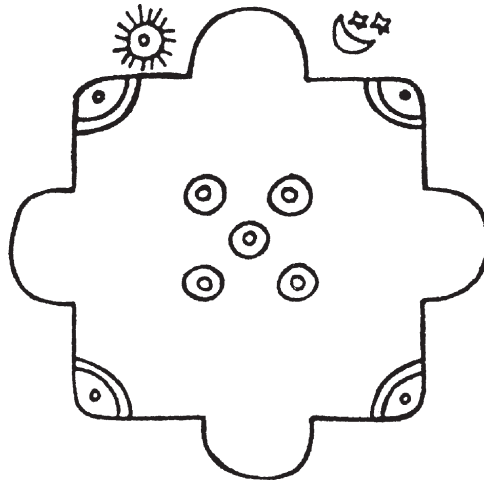
इन थापों की पुराई में वह सब कुछ है, जो समग्र लोकजीवन के मंगल मांगल्य की अच्छाइयाँ हैं। कहीं भी कोई ओछाई नहीं। ये अच्छाइयाँ समान भाव, रूप, धरातल और जिजीविषा की अन्तर्धाराओं से समाविष्ट हैं। यहाँ प्रांत, देश, वेश और भेष का कोई विभाजन नहीं होकर जीवजगत का वह लोकमानस छिटका

हुआ है, जिसे जन्म-जीवन और मरण की महत्ता-मांगलिकता में विश्वास है। इस दृष्टि से चाहे गुजरात का साथिया हो, चाहे महाराष्ट्र की रंगोली, उत्तरप्रदेश का चौकपूरक हो, चाहे भोजपुर का थापा, बंगाल की अल्पना हो, चाहे बिहार की अहपन, हिमाचल का आपना हो, चाहे राजस्थान का थड़ा-मांडना सबमें एक सी भाव-भूमि, लोकदृष्टि और अन्तर्मन की साफगोई मिलती है।

इन्हें पूरने वाले सातिये, शंख, चक्र, सूर्य, चाँद, दीप, कलश, वृक्ष, फूल, पत्तियाँ, लता, बेल, कुत्ता, बिल्ली, गाय, हाथी, घोड़ा, हिरण, गधा, तोता, गुग्गा, चील, मोर, चकोर, सारस, मैना, कौआ, कोयल, महल, मंदिर, टपरी, कांच, कांगसी, आठी, डोरा, निसरनी, चक्की-चूल्हे, धान-चून, सास-ससुर, देवर-देवरानी, भाई-बहिन, बाल-बच्चे, पति-पत्नी, देव-देवी, दास-दासी, नौकर-चाकर, हाट-घाट, घर-पनघट, व्यंजन-मिष्ठान्न, भूषण-आभूषण सब कुछ है। क्या कुछ नहीं आ समाया है इन थापों में! समस्त चराचर जगत ही जैसे एक घट-पनघट में आ समाया है। सारा विश्व यहाँ एक कुटुम्ब में रमा है। हमारी वसुधा कितनी अनेक-एक है यहाँ! इन थापों के ओर छोर भांत-भांत के झंवेरे, चित्ताकर्षक चीरण, सरहराते सेवरे, चरती-भरती, चरण-भरण, आंकड़-वांकड़, बिंदिया-बूंदकियाँ इन थापों को एक विशिष्ट प्रकार के सांस्कृतिक सौंदर्य और रूप-वैशिष्ट्य से परिवेष्टित करती हैं।

थापों का आकार-प्रकार

थापों में कुछ थापे मुख्य द्वार (प्रवेश द्वार) के बाहर प्रायः दाईं ओर बनाये जाते हैं। इनमें सरवण, नागपंचमी तथा संझ्या के थापे मुख्य हैं। शेष थापे घर में किसी दीवाल पर बनाये जाते हैं। इनके बनाने से पूर्व दीवाल को खड़िया अथवा गेरू से पोत दी जाती है। आवश्यकतानुसार पहले गोहली भी बना दी जाती है और तदनंतर उस पर थापा-थापा जाता है। इन थापों में सरवण के थापे विविधता लिए होते हैं और कलात्मकता भी जितनी इनमें उभारी जाती है, अन्यो में नहीं। ये मुख्य द्वार के दोनों ओर ही अधिक



बनाये जाते हैं। आड़े-टेढ़े कई रूपों-संकेतों में इन थापों में मैंने बीसों प्रकार राजस्थान के विविध अंचलों में देखे हैं। सर्वाधिक छोटे थापे भी सरवण के ही मिलेंगे-पौन-पौन, एक-एक इंच तक के। सबसे बड़ा थापा मैंने राजसमंद के पास जावद नामक गाँव में देखा। यह थापा दशामाता का था, जो 4 गुणा 3 फीट का था। जावद गांव उदयपुर से राजसमंद जाने वाली सड़क के किनारे दाँई ओर बसा है। यह थापा सड़क से ही दिखाई दिया। अमूमन थापे छोटे ही होते हैं। एक फीट की लम्बाई-चौड़ाई से अधिक बड़े थापे मेरे देखने में नहीं आये।

बिंदियों वाले थापे

सबसे सरल थापा बिंदियों का होता है। ऐसे थापों में कुछ नहीं कर केवल कंकू, काजल अथवा घी या फिर मेहंदी की बिंदियाँ ही लगा दी जाती हैं। कहीं-कहीं बिंदियों के साथ सात्या भी होता है। ये बिंदियाँ प्रायः मनाये जाने वाले व्रत-त्योहार की तिथि की संख्या लिए होती हैं। यथा शीतला सप्तमी के थापे में सात बिंदियाँ, दशामाता के थापे में दस बिंदियाँ, दीयाड़ी नम के थापे में नौ बिंदियाँ, नागपंचमी के थापे में पांच बिंदियाँ। गणगौर के दो-एक थापों में जब मैंने सौलह बिंदियाँ देखीं, तो मैंने इसका कारण एक वृद्धा से जानना चाहा। वृद्धा ने कहा कि ये बिंदियाँ सौलह सिणगार की प्रतीक हैं। गणगौर ईसरजी की पूरे मन से सेवा करने पर ही इन सारे सिणगारों की कोई अधिकारिणी होती है।

मुझे यह भी लगा कि अन्य थापों की अपेक्षा गणगौर का थापा कुछ और भी ऐसी विशेषताएँ लिए होता है जो अन्य थापों में देखने को नहीं मिलतीं। जैसे जहाँ अन्य थापे जमीन से कोई दो-तीन-चार फीट की ऊँचाई लिए बनते हैं, वहाँ गणगौर के बने कुछ थापे आँगन और दीवाल को झूठे देखे। इन थापों में ऊपर का भाग दीवाल पर तथा नीचे का उससे सटा आँगन पर बनाया जाता है। सभी थापों के नीचे एक पाट स्थापित किया जाता है। यह पाट लकड़ी का बना छोटा सा पाटिया होता है, जिस पर पूजा की

मुख्य-प्रमुख सामग्री रखी रहती है। कहीं-कहीं इस पाट पर भी अलग से मिट्टी की प्रतिमा बनाई जाती है, जिसकी पूजा की जाती है।

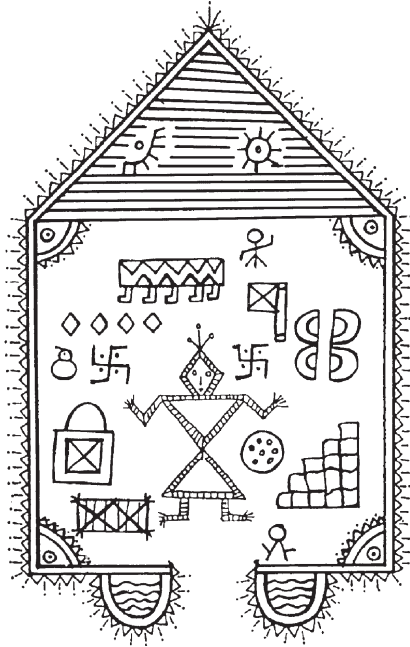
व्रत-कथा से जुड़े थापे

ये सारे के सारे थापे व्रत-कथाओं से जुड़े हुए हैं। ये व्रत प्रायः महिलाओं द्वारा ही किये जाते हैं जो इनकी साधना, उपासना और भक्ति भावना के प्रतीक हैं। स्त्रियाँ व्रत के दिन संयम-नियम का पूरा ध्यान रखती हैं और व्रत कहीं खंडित न हो जाये इसके लिए बड़ी सजग और सावचेत रहती हैं, कारण कि खंडित व्रत का

दुष्परिणाम होना माना गया है। इन व्रतों संबंधी जो कहानियाँ कही जाती हैं, उनका सामाजिक, धार्मिक एवं पौराणिक दृष्टि में बड़ा महत्त्व है। प्रायः सभी कहानियों में देवी-देवता की कृपा का फल, अच्छे कार्य का अच्छा फल तथा बुरे कार्य का बुरा परिणाम अंतर्निहित है। ये कहानियाँ कभी अकेले में नहीं कही-सुनी जातीं। पास पड़ोस की औरतें वैसे भी इन्हें सुनने के लिए लालायित रहती हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि व्रत वाली महिलायें किसी एक स्थान पर कहानी सुन लेती हैं।

इन कहानियों में देवी-देवता अपने भक्तों पर रीझकर उन्हें अच्छे फल की प्राप्ति कराते हैं। समृद्धि देते हैं। आनंद एवं सुख प्रदान करते हैं। फलाफूला परिवार देते हैं।

आये हुए अनिष्ट की शुभ परिणति देते हैं। मृतक को सरजीवित करते हैं। कहानी में वर्णित ये सारे फल ऐसे लगते हैं, जैसे साक्षात् घटित हो रही घटनाएँ हैं। इन कहानियों का विधिवत हूँकारा दिया जाता है। हूँकारे से कहानी आगे बढ़ती है और समाप्त होने के पश्चात् सभी सुननेवाली कहानी के मूल सार को-फल प्राप्ति को अपने हाथ जोड़कर वह फल, जैसा कहानी में किसी अच्छे कार्य करने वाले को मिला, स्वयं को, सबको प्राप्त होने की कामना एवं सद्भावना व्यक्त करती हैं। जैसे -दशामाता-दाड़ाबावजी की कहानी में 'दशामाता दाड़ाबावजी जैसे ब्राह्मण पर आप टूटमान (तुष्ट) हुए, वैसे ही सब पर हों।' गणगौर की कहानी में - 'ए ईसर



गणगौर, माली की माँ को जैसा वरदान दिया, वैसा हम सबको ही देना' आदि-आदि। कहानी कहने-सुनने की यह पद्धति राजस्थान की अपनी निराली है।

थापों में प्रतीक चिन्ह

बिंदियाँ, सात्ये और सूरज-चाँद अमूमन हर थापों में अंकित मिलेंगे। कुछ थापों में माताजी के लिए मंदिर, मंदरी, टपरी बनाई जाती है और उसमें माताजी बनाये जाते हैं। किन्हीं-किन्हीं थापों में बाहर चारों ओर जो घेरा बनाया जाता है, वह स्वयमेव में किसी मानवाकृति सा लगता है। इस घेरे में हाथों की जगह दोनों ओर तथा नीचे पाँवों की जगह ऐसी रेखाएँ दी जाती हैं, जो हाथ पाँवों सी लगती हैं। थापों में भी जो चित्र बनाये जाते हैं, वे अधिक प्रतीकात्मक एवं संकेतात्मक होते हैं, परन्तु ऐसे चित्र ठेठ गाँवों में ही अधिक देखने को मिले। शहरों के थापों में तो आधुनिक पुरुष-स्त्री बने हुए भी मैंने देखे। कहीं-कहीं थापों में पुरुष टोपी पहने तथा स्त्री साड़ी पहने देखी गई। आमेट में मैंने दशामाता का एक बहुत बड़ा चित्र देखा, जिसमें आधुनिक पुरुष-स्त्री चोपड़ खेलते हुए दिखाये गये। इसमें कई रंगों का प्रयोग था, किंतु यह कहीं से मोहक नहीं था।

मारवाड़ के गाँवों में मैंने गोगाजी के थापों में जो चित्रांकन देखे, उसे देखकर कोई भी प्रागैतिहासिक चित्रों के साथ उनकी तुलना एवं समानता कर सकता है। ये चित्र पतले गोबर, हरिए गोबर से बनाये जाते हैं। ये बड़े खूबसूरत और टिकाऊ होते हैं। सीधी सरल रेखाओं में कोरे गये थापे बड़े सुहावने तथा प्यारे भी लगते हैं। हमारे यहाँ चित्रों में जब तक आँख नहीं बनाई जाती है, तब तक न तो वह चित्र पूर्ण बनता है न उसकी सुंदरता ही चटख पाती है, परन्तु थापों में मैंने ऐसे थापे भी देखे, जिनमें चित्रित आकृतियों में आँखें तो हैं ही नहीं, पर मुँह नाक कान के भी कोई चिन्ह नहीं है। धड़ के रूप में केवल गोलाई दी गई है और उसके नीचे गुणित का चिन्ह दिये लम्बी लकीरें बना दी गई हैं जो आदमी के पूरे शरीर की प्रतीक हैं। इनके नीचे दो छोटी आड़ी लकीरें बना ली जाती हैं, जो पाँव के पंजे की प्रतीक होती हैं। कभी-कभी धड़ के ऊपरी हिस्से से दो खड़ी रेखाओं को नीचे लाकर फिर ऊपर को मोड़ ली जाती हैं, जो हाथ की प्रतीक होती हैं।

सच पूछा जाये तो यह सारा कमाल आड़ी-टेढ़ी रेखाओं का है। पशु, पक्षी, मानव, सूर्य, चाँद या अन्य आकृतियाँ, सभी रेखाओं के कमाल में ऐसी सुथराई से उभारी जाती हैं कि उन्हें देखते ही यह आभास हो जाता है कि वे किसकी प्रतीक हैं।

थापों की कला-संस्कृति

इन थापों में जहाँ महिला-जीवन की सांस्कृतिक सम्पन्नता के भाव परिलक्षित होते हैं, वहाँ उनकी कलाकारिता भी देखने को मिलती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनका उजला इतिहास न जाने कितनी परंपराओं की शृंखला-कड़ियाँ जोड़ता चलता है। बालिकाएँ भी अपने मन में इनके प्रति अपने भक्ति समर्पण को लगाये रखती हैं। थापा बनाना, कोरना तथा मोड़ना सीखती हैं। पूजा के थाल सजाने में सहयोग करती हैं। पूजापा तैयार करती हैं। दीप जलाती हैं। अपनी माताओं के साथ स्वयं भी सजधज कर भक्ति भावना से पूजा कर प्रसन्न होती हैं। एकमन बैठ कहानी सुनती हैं और आधादूधा दिन भूखे रहने का अभ्यास प्रारंभ कर देती हैं। लड़कियाँ ही नहीं, घर के बच्चे तथा पुरुष भी अपनी पूर्ण भागीदारी निभाते हैं। ये थापे जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय आदि सबकी सीमाओं से परे असीम-निस्सीम होते हैं।

सांझी

सांझी कुँवारी कन्याओं का अनुष्ठानमूलक लोकोत्सव है, जो प्रतिवर्ष श्राद्ध पक्ष में मनाया जाता है। बालिकाएँ प्रति संध्या घर के मुख्य द्वार के एक ओर हिंगलू मिट्टी की गोहली पर ताजे गोबर की आकृतियाँ बनाकर भाँति-भाँति के फूलों से सजाती हैं। ये आकृतियाँ सांझी कही जाती हैं। इस चितरावण में घर की महिलाएँ भी बड़ा सहयोग करती हैं। दस-ग्यारह दिन तक विभिन्न आकृतियाँ, तिथि के अनुसार भी बनाई जाती हैं, फिर एक बड़ी आकृति बनाई जाती है, जो कोट कहलाता है। यह कोट परकोटे के भीतर बना होता है। देश के कई अंचलों में सांझी का प्रभाव और प्रसार है, अतः वहाँ की आंचलिक विशेषताएँ भी सांझी चित्रण में प्रमुखता से घर कर गई हैं। ऐसी स्थिति में हर अंचल की सांझी उस अंचल विशेष की धरोहर और समृद्ध चित्रकृति लगती है।

सांझी का इतना प्रभाव परिव्याप्त होने के कारण विद्वानों ने इसकी अपने-अपने ढंग से व्याख्या की है। विश्लेषण और मान्यता

रखी है। इससे किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने की बजाय भ्रम ही अधिक व्याप्त हुआ है। ऐसा भी हुआ है, जब वर्णन के दौरान अध्ययनवेत्ता स्वयं भी भ्रमित होने से तथ्यपूर्ण जानकारी नहीं देकर भटकन ही अधिक पाते रहे।

- (1) निमाड़ी लोकसाहित्य के गहन अध्येता रामनारायण उपाध्याय ने सांझी को संध्यादेवी की आकृति का स्वरूप कहते हुए सांझफूल नाम दिया और निमाड़ के भित्तिचित्रों में महत्त्वपूर्ण माना है।
- (2) निमाड़ के रंग बिखरेने वाले वसंत निरगुणे ने सांझी को सांझाफूली नाम से चित्रित करते हुए निमाड़ी किशोरियों का सबसे प्रिय त्योहार कहा और निमाड़ में ही उसके जन्म एवं विकास को होना बताया।
- (3) मोहन स्वरूप भाटिया ने सांझी को आदि शक्ति देवी की प्रतीक पार्वती के लोकगृहीत रूप गौरा तथा एक ऐसी नायिका जो पितृपक्ष में अपने भाई के साथ ससुराल से पीहर आती है, माना है।
- (4) डॉ. शंकरलाल यादव की दृष्टि में सांझी दुर्गा का रूप, बालिकाओं की आराधना तथा संध्या माता है।
- (5) श्रीचंद जैन ने मुझे सूचित किया कि सांझी संध्या का एक विकृत रूप तथा भगवती पार्वती की भगवान शंकर को पति के रूप में प्राप्त करने की आराधना है।
- (6) डॉ. सत्या गुप्ता सांझी को दुर्गा का एक स्वरूप मानती हुई इसका संबंध रामविजय से होना बताती हैं।
- (7) मालती शर्मा ने सांझी को ब्रह्मा की मानसी कन्या संध्या का एक रूप माना है।
- (8) कलानाथ शास्त्री ने सांझी को कला मानते हुए इसे कुँआरी कन्याओं की एक लोकपरम्परा कहा है।
- (9) डॉ. प्रफुल्लकुमार सिंह 'मौन' ने मिथिला की सांझी का अध्ययन करते हुए लिखा कि उसमें संध्या का अभिनंदन, गीत गायन, दीप दान, आरती, नृत्य-अभिनय एवं चित्र अलंकरण से किया जाता है। वहाँ के आँगनों में कहीं-कहीं सांझी (संध्या) के ठांव (अल्पना) की मंत्रों एवं

गीतों द्वारा पूजा भी की जाती है।

- (10) संझ्या पर विशेष शोधानुसंधान करनेवाली डॉ. कहानी भानावत (मेहता) ने संझ्या को बालिकाओं की सहचरी-देवी माना है।
- (11) कुछ इसका संबंध कृष्ण की राधिका से मानते हैं तो कुछ नौरता की नौ देवी का एक रूप मानते हैं।
- (12) कुछ कहते हैं कि कृष्ण द्वारा राधिका को राजी करने के लिए संझ्या की आकृति बनाई गई, जिससे सांझी नाम चल पड़ा। कोई इसे ब्रज की देवी से जुड़ा मानते हैं।
- (13) कुछ इसे राजस्थान की कोई कन्या-सुकन्या मानते हैं।
- (14) कुछ महानुभाव इसे लक्ष्मीनारायण की पूजा का स्मृति चिन्ह मानते हैं।

इस प्रकार सांझी को लेकर जितनी कल्पना की जा सकती थी, विद्वानों ने की। सांझी पर यों कम नहीं लिखा गया। आज भी लिखा जा रहा है। बहुतों ने तो सांझी के उद्भव और विकास के प्रसंग को छुआ ही नहीं। जिन्होंने छुआ भी तो अध्ययन-मनन के आधार पर नहीं, अपितु अपनी स्थापना देने के उद्देश्य से मनमर्जी की बात लिख दी। कहना चाहिए- अड़ंगा ठोक दिया।

यह भी हुआ कि जिस अंचल-प्रांत के लेखक ने सांझी पर लिखा, उसने उसे अपने अंचल-प्रांत की समृद्ध धरोहर कहना ही अधिक संगत समझा। ब्रज प्रदेश में जो सांझी सर्वाधिक रूप में प्रचलन में है, वह मंदिरों में बनने वाली सांझी है, जिसमें कृष्ण लीला की विविध छवियाँ दर्शाई जाती हैं। इसीलिए मंदिर के बाहर लोकजीवन में प्रचलित बालिकाओं की सांझी को भी भ्रमवश उसी से जोड़ दिया और उसमें भी कृष्ण लीला को प्रमुखता दे दी, जबकि ऐसा कहीं देखने को नहीं मिलता।

सांझी पर मेरा पहला लेख धर्मयुग में छपा। इसे पढ़कर डॉ. श्याम परमार ने मुझे पत्र लिखा कि सांझी से संबंधित बमुश्किल तीन-चार गीत ही मिलते हैं। इस ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया। बहुत खोज करने की जरूरत है। उनके पत्र ने मुझे सांझी पर शोध की प्रेरणा दी और मैं संकल्पबद्ध इस कार्य के पीछे लग गया। विभिन्न प्रांतों के लेखकों से पत्राचार किया। उनकी लिखी

पुस्तकों का अध्ययन किया और जहाँ-जहाँ भी राजस्थान और उसके बाहर गया, सांझी विषयक जानकारी का लक्ष्य केंद्र में रखा। उसका परिणाम यह रहा कि लगभग 50 गीत एकत्र किए और खासी अच्छी जानकारी हाथ लगी। 'राजस्थान की संज्ञा' पुस्तक उसी का परिणाम है।

अपनी उपलब्धियों की जानकारी मैं डॉ. श्याम परमार को देता रहा। वे मेरा हौंसला बढ़ाते रहे। लिखा भी कि लगता है सांझी का संबंध कहीं न कहीं राजस्थान से है। मैं सांझी के मूल उपजीव्य की तलाश में भटकता रहा। इस संबंधी गीतों, कथाओं और चित्रों में मुझे उसकी जानकारी के गहरे सूत्र हाथ लगे, किंतु सच्ची लगन और खोज की पगडंडियाँ यदि निरन्तर जागती रहें तो मार्ग प्रशस्त होता है और सफलता अवश्य गले मिलती है।

इन्हीं दिनों रानी लक्ष्मीकुमारी चूड़ावत ने बगड़ावत लोकगाथा पर कार्य प्रारंभ किया। वे चाहती थीं कि मैं उसके पाठ-संपादन का कार्य करूँ। एक दिन वे कलामंडल आई और सामर देवीलालजी ने मुझे वह कार्य करने को कहा। मैंने इसे अपना सौभाग्य ही माना और गर्मी की भयंकर दुपहरियों में तपते, पसीना बहाते एक पखवाड़े में उस कार्य को पूरा कर दिया। मुझे लगा कि मेरे से पूर्व वह कार्य किसी डिंगल के विद्वान को दिया गया था। कारण कि सारा गाथा-पाठ ही डिंगलमय किया हुआ था।

बगड़ावत लोकगाथा के पाठ संपादन का सबसे बड़ा लाभ कहिए या उपलब्धि, मेरे लिए यह रही कि जिस सांझी के उद्भव-उत्स के लिए मैं छटपटा रहा था, वह हाथ लग गया। मैं बाँसों उछल पड़ा और उस पूरे दिन इतना उत्फुल्ल, प्रफुल्ल एवं उल्लसित रहा कि बड़े से बड़ा पद और पुरस्कार पाने का हर्ष भी उसके सामने ग्रहणवत लगा।

बगड़ावत में आई कथा का उल्लेख मैंने अपनी संज्ञा-पुस्तक में किया, जो इस प्रकार है-

“सूर्योदय पूर्व बड़े सवेरे बूढ़े पुष्कर में नहाती हुई लीला सेवड़ी नामक ब्राह्मणी की निगाह ज्योंही घोड़े पर आते अपने हाथ में शेर का सिर लिए हरिजी पर पड़ी कि उसके गर्भ रह गया। फलतः हरिजी को लीला सेवड़ी से विवाह करना पड़ा। इससे बाघजी नामक संतान हुई, जिसका मुँह शेर का तथा धड़ मनुष्य का था। ये हरिजी अजमेर के राजा बीसलदेव के भाई मांडलजी के पुत्र थे।

बाघजी के होते ही राजा का बाग लहराने लग गया। सारे शहर के लोग उसे देखने उलट पड़े। राजा ने बाघजी को कालूराम नामक खोड़्ये (लंगड़े) ब्राह्मण के सुपुर्द कर दिया। दोनों बाग में रहने लगे। एक दिन ब्राह्मण को शहर से लौटने में देर हो गई।

बाघजी भूख से परेशान। ब्राह्मण जब लौटा तो बाघजी को गुस्से में देख डर गया कि कहीं उसे ही वह न खा ले। बाघजी ने उसे बुलाया और देरी से आने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने डरते-डरते कहा कि लगन निकालने गया था, सो देर हो गई। बाघजी ने कहा- 'मेरे लगन कब आयेंगे? तू जानता हो तो मेरे भी निकाल दे।' ब्राह्मण ने मन में विचार किया कि इससे कौन

शादी करेगा। कोई लड़की शादी कर भी लेगी तो इसे देखते ही डर मरेगी। पर उसे तो कुछ कहना ही था। फलतः उसने श्रावण की तीज पर झूला डालने की सोची ताकि लड़कियाँ झूलने आयेंगी और उसके साथ बाघजी की शादी करवा दी जायेगी। उसने यह बात बाघजी को कह दी। बाघजी ने कहा- 'यदि ऐसा नहीं हुआ तो मैं तुम्हें खा जाऊँगा'।

श्रावण पर झूला डाला। लड़कियाँ झूलने आईं। ब्राह्मण ने कहा- 'पहले बाघजी के फेरा लेती जाओ' फिर जाकर झूला झूलो।' समझदार लड़कियों ने तो ऐसा नहीं किया और अपने घर चली गईं पर जो नासमझ थीं, उन्होंने यह स्वीकार कर लिया। छत्तीस ही जात की लड़कियाँ वहाँ आईं और बाघजी के फेरा खाती गईं और झूला झूलती गईं।

इधर उनके माँ-बाप परेशान हुए। लड़कियाँ बड़ी हो गई पर उनके लगन नहीं आते। आयें भी कैसे? वे तो बाघजी से जो भाँवर ले चुकी थीं। तब समाज एकत्र हुआ और तय हुआ कि ऐसी सभी लड़कियों को एक बड़े बाड़े में इकट्ठी कर उन्हें चरखा दे दिया जाय और एक बुढ़िया पानी पिलाने के लिए रख दी जाय और उसे कह दिया जाय कि लड़कियाँ आपस में जो कुछ बात करें, उसका ध्यान रखे। यही किया गया।

लड़कियाँ आपस में बात करें- 'अपनी हमउम्र की कइयों के तो बाल बच्चे भी हो गये और अभी तक अपनी शादी का पता नहीं।' एक ने कहा- 'माँ-बाप तो बिचारे शादी कराने के लिए कभी से तैयार हैं, पर लगन ही नहीं आये तो वे भी क्या करें?' दूसरी ने कहा- 'लगन कहाँ से निकलेंगे, अपन तो बाघजी के साथ पहले ही विवाह कर चुकी हैं।' सब आपस में एक-दूसरी को 'तू ही बाघल्ये की लुगाई, तू ही बाघल्ये की लुगाई' कहकर हँसी मसखरी करने लगीं।

डोकरी ध्यानपूर्वक यह सब सुन रही थी। उसने सारी बात समाज को कह दी। समाज उन सभी लड़कियों को राजदरबार में ले गया और राजा से कहा- 'महाराज! इनको बाघजी ब्याह चुका है। किसी के लगन नहीं आ रहे हैं। आप बाघजी को बुलाकर समझाओ।' राजा ने बाघजी को बुलाया। बाघजी ने कहा- 'मैंने इनके साथ फेरे तो खाये हैं, पर इतनी को मैं क्या करूँगा? अधिक से अधिक जितनी मेरी बाथ में आयेंगी, उतनी मैं रख सकूँगा।' बाघजी ने यह कहकर बाथ भरी। उसमें कुल तेरह आईं। शेष जो बाहर रह गईं, उन्होंने नाते (पुनर्विवाह) कर लिए। कहते हैं- पुनर्विवाह की यह प्रथा तब से ही प्रारंभ हुई।

इन तेरह में से बारह तो ऊँची जाति की थीं और एक जाति की बलायन थी, जिसका नाम संझ्या था। बाघजी उन्हें लेकर बाग में आए। बाग में आकर खोड़्या बोला कि मैंने आपके लगन निकाले, फेरे कराये तो मुझे भी तो कोई लड़की मिलनी चाहिये। बाघजी ने उन सभी में से जो भी सबसे रूपवती हो, उसे लेने को कह दिया। उनमें सबसे सुंदर संझ्या ही थी। वह उसी को लेकर घर चला गया।''

मेरे दिमाग में सांझी की वह गीत-पंक्ति घूमती रही, जिसमें खोड़्या अर्थात् लंगड़ा ब्राह्मण संझ्या को लेने जाता है और धुत्कारा जाता है- 'खुड़ खुड़ रे म्हारा खोड़्या जमाई, थूं संझ्या ने लेवण आयो रे।' सच पूछा जाय तो इसी पंक्ति के कारण मैं संझ्या की यह खदान खोज पाया। यह कहानी लोकजीवन की है, मगर अजमेर का राजा बीसलदे तो इतिहास का अमिट पन्ना है।

लोक संस्कृति की कोई भी धारा-प्रधारा याकि विधा-विविधा हो, उसका अध्ययन बड़ी निष्ठा, लगन और ईमानदारी से करना होगा। अध्ययन करने वाले

महानुभाव को पूर्वाग्रह से मुक्त हो उसकी अन्तःचेतना की तह में जाना होगा। अपने निजी हित, उपलब्धि या नामवरी का मोह छोड़ना होगा। तथ्यों की तोड़-मरोड़ से बचना होगा और सब तरह का अध्ययन कर आत्म स्वीकृति से कोई बात कही जायेगी तो वह सत्य उद्घाटित होगा। उसे प्रमाणित करने के लिए हजार दलीलें देने, जंघा फटकारने, आँखें दिखाने या बार-बार मुँह बिचोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

डॉ. श्याम परमार ने मुझे सांझी विषयक अध्ययन की प्रेरणा ही नहीं दी, संबल भी दिया और उनके लिखने का फल



यह मिला कि मैंने गंतव्य पा लिया। उन्होंने लिखा था- ब्रज के एक गीत में सजलदे का नाम आता है जो सांजा से विवाह कर लेती है, अतः ब्रज में सांजी के साथ सांजा भी पूजा जाता है। उन्होंने सजलदे नाम को राजस्थान में लोकप्रिय रूपलदे, आभलदे, मालदे, वीरमदे जैसे नामों की अनुरूपता के साथ सांझी का मूल संबंध राजस्थान से होने का विश्वास भरा अनुमान जताया था। यह भी लिखा था कि घुमन्तू जातियों द्वारा इसका प्रचलन राजस्थान, मालवा, ब्रज आदि में हुआ, किंतु अधिक संभव है, इसका मूल उद्गम अजमेर-सांगानेर से ही हुआ हो।

एक गीत भी है जिसमें कहा गया है- 'संज्याबाई रो सासरो बड़ी अजमेर, परण पधार्या सांगानेर।' जगदीशचंद्र माथुर ने भी कुछ ऐसी ही संभावना व्यक्त करते मुझे लिखा था- 'यह अध्ययन आपसे ही संभव है। सांझी की जड़ें, लगता है आपके उधर ही विस्मृति के अंधकार में कहीं खोई हैं, विश्वास है आप उन्हें खोज निकालेंगे।'

सांझी को लेकर ब्रज के विद्वानों ने ही नहीं, अन्यो ने और राजस्थान के विद्वानों ने भी ब्रज के पाले में गेंद डाली। वह धरती पूरी की पूरी राधा कृष्णमय है, इसलिए वहाँ लोक के हर उत्स-आयाम को कृष्ण और राधा की छवि का ही छुवन मान लिया जाता है, लेकिन राधा तो प्रेयसी थी। रूकमण कैसे अलोप हो गई! बाजी हार गई!

बकौल श्याम परमार सजलदे तो ब्रज में बैठी है। बाकी दे का बोलबाला तो राजस्थान में ही अधिक मिलेगा। यहाँ निहालदे, रूपादे, राणादे, बीसलदे, वीरमदे आदि एक से एक ख्यात-प्रख्यात नाम हैं, जो लोक में बांचे, गाये, बजाये, अरथाए जाते रहे हैं।

लोक की संपदा आंचलिक शोध से ही अधिक अनुप्राणित होती है। उसका अध्ययन लोकतत्त्वों की आधारशिला लिए होना चाहिए। इसमें स्थानीय रंगबोध, आंचलिक परिवेश, रंजन-अनुरंजन,

हँसी-दिल्लीगी, लोकजीवन के सरोकार, सांस्कृतिक उत्स, जीवनेच्छाओं तथा निज भाषा-बोली के सहज स्फुटन की अंतश्चेतनाओं के इन्द्रधनुषी सहकारों से जो आयाम उद्घाटित होते हैं, वे ही लोकतत्त्व को रूपायित करते हैं।

लोक की रूपंकर कलाएँ हों या अन्य परंपराशील वैभव युक्त संस्कृति सरोकार; सब ओर इसका अध्ययन हो रहा है। किंतु बेसब्री और धड़ल्लेपन के कारण उस पर पश्चिम का ज्यादा प्रभाव है। भारतीय लोकसंस्कृति का अध्ययन करने के लिए हम भारतीय मन, मनेच्छा और मनीषा को आधार नहीं बनाकर पश्चिम का रंग ग्रहण कर अपने मूल लोकरंग की पहचान ही नहीं दे पाये हैं। पता

नहीं, क्यों नहीं हमें अपनी माटी, उसकी सुगनी खुशबू, उसका सौंदर्य और उसको बढ़ाने वाले प्रसाधन लुभावने नहीं लगते!

अपनी धरोहर सहेजने, संवारने और सुखदा बनाने के लिए हम जितने चेतनवान, सजग और साहसी नहीं होते, उससे अधिक उसे विकृत, विस्मृत और विदा करने में अपनी ऊर्जा का होम करते हैं। लेखकीय शिष्टाचार और शुद्धाचार का निर्वाह भी हमारे आचरण में नहीं है। 'संजा' नाम

से संज्ञ्या पर एक मोनोग्राफ आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल ने प्रकाशित किया। इसे पढ़ने से तो यही लगता है कि सांझी मालवा की ही लोककला है। इसके लेखक डॉ. शिवकुमार 'मधुर' ने राजस्थान में प्रचलित बगड़ावत लोकगाथा का वह पूरा उल्लेख तो किया, जिसे मैंने अपनी पुस्तक में दिया, किंतु उन्होंने इसका मेरा कोई संदर्भ देने की आवश्यकता ही महसूस नहीं की, जबकि इस मोनोग्राफ का प्रकाशन मेरी पुस्तक के आठ वर्ष बाद 1985 में हुआ। ऐसे में तंग दिल रख-रखकर ही हमने बहुत कुछ खोया है। लोकजीवन में काम करने वालों का लोकचित्त भी लोक की ही तरह उदार, विमल और विशाल होना चाहिए।

सांझी के अंतिम दिनों में बनने वाला संझ्या कोट पूरा गढ़ ही होता है, जिसके चारों ओर मजबूत परकोटा बनाया जाता है। कोट के बाहर मुख्य द्वार के दोनों ओर जाड़ी जोधा, पतली पेमा बड़े आकर्षक रूप में मकई, ज्वार, लालें, चीणें, रूपहली, सुनहरी कोर, चिरमू, टीलड़ियाँ आदि से सजाई जाती हैं। उन्हीं के आसपास दूध-दही की जावणी (माटी का बर्तन) लिए गुजरणी, झाड़ू लिए स्त्री, ढोल के रूप में मकई का डूंडा लिए ढोली, सिर पर फूलों की छबड़ी लिए मालिन, पानी के घड़े लिए पनिहारिन तथा खापर्या चोर बनाए जाते हैं। खापर्या उल्टा, सिर नीचे और पाँव ऊपर बनाया जाता है।

खापर्ये का उल्लेख कई ग्रंथों तथा लोक कथा-किस्सों में मिलता है। छठी शताब्दी के प्रथम चरण में कांची के पल्लववंशीय राजा सिंध विष्णु के पुत्र वरमन ने मत्त विलास प्रहसन में खापर्ये का उल्लेख किया। बौद्धधर्म के संस्थापक बुद्ध पर यह आक्षेप लगाया गया कि चौर्य कला में उन्होंने खरपट को भी मात दे दी। यह खरपट खापर्या ही है। संस्कृत में खापर्ये का पर्याय चोर, ठग, धूर्त, बदमाश आदि मिलता है। डॉ. ब्रजमोहन जावलिया ने बताया कि प्राचीन ग्रंथों में खापर्या के कई उल्लेख मिलते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के लेखन के समय में चौर्यकला विज्ञान के लेखक के रूप में खटपट नाम जगजाहिर हो गया था। राजस्थानी शब्दकोश में उमर काव्य का उदाहरण देते हुए कहा गया है- 'जग में ऊसरियों खापरियौ जरी बाल्हा बीछोड़न बापरियो।'

रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत के अनुसार खापरिया पक्का चोर और जुआरी है, किंतु उसके चरित्र की खासियत भी है कि वह एक हवेली में चोरी करने जाता है, जहाँ कटी हुई ककड़ी के साथ लूण यानी नमक भी खा लेता है। इस कारण वह जेवरों की पोटली वहीं छोड़ जाता है। इस भावना के वशीभूत कि जिसका नमक खा लिया, उसके साथ दगा नहीं करना चाहिए। लोक जीवन में खापर्या ठगों के सरताज, अच्छे-अच्छों का कान कुतरने वाले, करामाती, कुबदी, झांसेबाज तथा अपना उल्लू सीधा करने वाले व्यक्ति के रूप में चर्चित रहा है। वह कहीं भी अच्छी नजरों से नहीं देखा गया।

मालन बीकानेर की बड़ी प्रसिद्ध रही है। 'तरकारी ले लो, मैं हूँ मालणिया बीकानेर की' गीत सब ओर प्रचलित है। कठपुतली

खेल में भी यह गीत खासा मनोरंजक है। ओंकारश्री ने बताया कि शक्लसूरत और डीलडौल में यह मालन बड़ी पूठ की अदाएँ लिए थीं। महाराजा गंगासिंह के दीवान पृथ्वीसिंह की यह खासमखास थी। यह फल और साग सब्जी के साथ-साथ अपना रंगीला मिजाज भी फैलाती। बड़े लोगों की महफिलों को भी यह सदाबहार कर देती। सांझी के साथ ऐसे अंकन और उनसे जुड़े मिथकों का अध्ययन कई प्रकार की दिलचस्पियों के साथ समाज-संस्कृति के अनूठे आयाम उद्घाटित करता है।

शोध का कोई कार्य हो, कभी पूरा नहीं होता। उसमें निरंतर कुछ करते रहने की गुंजाइश होती है। उसकी प्रामाणिकता को भी बार-बार प्रश्नों के घेरों से लाद दिया जाना चाहिए, तभी तो पुनः-पुनः उस पर नये रूप में सोचने-समझने और कार्य करने का उत्साह बढ़ेगा। इस दृष्टि से सांझी पर कार्य करने की अभी बड़ी गुंजाइश है। ज्ञान-विज्ञान की जितनी शाखाएँ और शास्त्र हैं, उन पर सांझी का कसौटीकरण यदि किया जाय तो अध्ययन के जो सूत्र हाथ लगेंगे, उनसे इसका महत्त्व कई रोशनदान और खिड़कियाँ खोलेगा। चित्रकला की दृष्टि से मेरी अपनी पुत्री डॉ. कहानी ने इस पर शोध किया था।

कहना नहीं होगा कि निर्विवाद रूप से सांझी का उद्भव एवं विकास राजस्थान में हुआ। यहीं से मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र आदि प्रांतों में विविध नाम, रूप, स्वरूप में लमछराती हुई नेपाल तक इसने अपनी पहुँच दी। राजस्थान में भी मेवाड़ में इसका सर्वाधिक प्रसार है। इधर इसका प्रचलन सभी जातियों में, छत्तीस कौम में परिव्याप्त है। सर्वाधिक रंगीन और आकर्षक बनने वाली सांझी भी मेवाड़ की ही है। सांझी के अंकन भी सर्वाधिक मेवाड़ में ही देखने को मिलते हैं। फूलों की विविधता, सजा का आकर्षण, गीतों की बहुलता, बालिकाओं का उत्साह और उन्हें सहयोग देने में उनकी बहिनों तथा माताओं का सहयोग भी उतना ही हरख लिए रहता है।

आंचलिक प्रभाव की दृष्टि से मेवाड़ी बोली तथा यहाँ का ख्यातनाम पहनावा, संस्कार और जीवनधर्म का सांझी पर बड़ा प्रभाव है। सांझी विषयक सारे अंकन भी मेवाड़ के जनजीवन से जुड़े अंकन हैं। ये सभी सांझी नाम से ही जाने जाते हैं। फूलों से अधिक सुंदर और कमनीय कोई नारी नहीं होती। उसकी उपमा,

उसके श्रृंगार सबके सब फूलों से संदर्भित होते हैं, इसीलिए सांझी में भी फूलों का ही प्राबल्य, माधुर्य, उपादान, रंगावली, साज-सजावट, घर-आँगन, प्रतीक परिवेश और रचाव है। सब सांझी में है और सब में सांझी है। फूलों का हर सिंगार सांझी है तो सांझी के सारे सिंगार फूलों में समाविष्ट हैं। एक सांझी को लेकर जीवन की समग्रता का, पूर्णता का, पावनता का कितना विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है।

मेवाड़ की महिमा का क्या बखान करें। यहाँ सब ओर शौर्य और स्वाधीनता के सांज्य-पुष्प खिले हैं। प्रताप से पूर्व इस भौम में चौईस भाई बगड़ावत हो चुके हैं, जिनकी वीरता यहाँ के कण-कण में गाई जा रही है। ये बगड़ावत वे ही हैं, जो बाघजी के हैं। बाघजी की बाथ में जो बारह सुकन्याएँ आई थीं, उनसे एक-एक के दो-दो संतानों के रूप में जो रत्न जाये, वे सब भाई 'भड़ बगड़ावत' कहलाये। भीलवाड़ा-आसींद की खारी नदी की पूरी पट्टी इनकी युद्ध भूमि रही। इन चौईस भाइयों के नाम से इधर चौईस गाँव बसे हुए हैं, जो इनकी कीर्ति की गाथा-गावणी करते हैं।

लेकिन सांझी का क्या हुआ? सांझी के बहाने लड़कियाँ हर अभिभावक को यह सीख दे रही हैं कि समर्थ लोगों ने निम्न रहते समाज और उसकी समझ को सदा ही बौना बनाये रखा है। पुरुषों ने अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए नारी जाति के अस्तित्व को झकझोरा है। उन्हें कोई झेलने वाला नहीं है। पीहर से पलायन होने के बाद उनका क्या होता है? वे किस तरह का जीवन व्यतीत करती हैं? कौन समझ पाया है!

सांझी एक भावना प्रधान चित्रण है। उन बालाओं के संस्कारित जीवन का उत्फुलन है। वे फूल की तरह खिलना, सुवासित होना और सुमन बनना चाहती हैं। काश, उनकी चाह को कोई समझ पाता! 'वाह' दे पाता! 'आह' ले पाता और नारी को सचमुच में पुरुष की सहधर्मी, समकक्षधर्मी समझा जाता!

इन सारे संदर्भों को झेलते हुए सांझी किस बहादुरी, सहिष्णुता और जीवट वाली जिनगाणी जीती रही, कैसे वह सबकी प्रिय, स्नेहिल और लाड़ली बनी, लोकप्रियता के उसके घटक क्या रहे होंगे, समाज की कठोरता और कर्कशता के बीच कैसे उसने फूल सी अपनी कोमल एवं कंचन काया को सुरक्षित बचाये रखा होगा, किसी ने इस पर ध्यान भी दिया! इस नजरिये से सांझी मेरे लिए एक टीस, दर्द और करुणा का क्रन्दन भी है।

श्राद पक्ष यों भी हमारे लिए कम दर्दाला नहीं होता। मीरां तो अपने एक ही कृष्ण की दरद दीवानी थी, मगर हमारे दरद के कई फोड़ों पर घाव गंभीर हैं। वे कुंवारे बालक-बालिकाएँ हैं, जो असमय ही अस्त हो गये! वे बुजुर्ग हैं जो हमारे जीवन निर्माण की छांह बनते हुए हमें बेछांह कर गये! वे डोकरे-डोकरियाँ हैं, जिन्होंने अपने समग्र उल्लास के टोकरे-टोकरियों से हमें आत्मसुख का अणहद नाद दिया और उन सबके साथ जब सांझी को याद करता हूँ तो मेरी व्यथा की धड़कन और अधिक बढ़ जाती है। धीरे-धीरे जब सब चले जाते हों तो जीवन कितना श्मशान लगता है!

सन्दर्भ

1. निमाड़ी और उसका लोकसाहित्य, रामनारायण उपाध्याय, उषा प्रकाशन गृह, ललितपुर (झांसी)
2. बिखरे रंग निमाड़ के, बसंत निरगुणे, लोकरंग, 2 शंकरगंज, इंदौर
3. ब्रज लोककला, संपादक डॉ. हर्षनंदिनी भाटिया, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़
4. हरियाना प्रदेश का लोकसाहित्य, डॉ. शंकरलाल यादव
5. खड़ीबोली का लोकसाहित्य, डॉ. सत्या गुप्ता
6. सांझी कला, डॉ. कहानी भानावत, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर

राजस्थान में सांझी कला

डॉ. कहानी भानावत

राजस्थान में सांझी एक लोकदेवी के रूप में प्रतिष्ठित अनिन्द्य सुन्दरी है, जो अत्यन्त ही कोमल और भावुक मन लिये है। यह प्राकृतिक सौन्दर्य की एक ऐसी देवी है, जिसे सर्वाधिक रूप में रंग-बिरंगे फूलों और उनकी सुगंधों से ही प्यार है, इसलिए वह उन्हीं-उन्हीं का श्रृंगार करती है और उन्हीं-उन्हीं की तरोताजा सुगंधी में नहाती हुई सदा शुद्ध, पवित्र एवं खुशमिजाज बनी रहती है। यह संध्या को फूलती है और रातभर सब ओर अपनी खुशबू फैलाती हुई सूर्योदय के होते-होते अदृश्य हो जाती है। फिर संध्या को अपना अस्तित्व देती है। इस प्रकार यह पूरे पितृपक्ष में बनी रहकर कुमारिकाओं के व्रतानुष्ठान को धर्म-कला-कर्म से संयोजित करती है, साथ ही उनकी मनोच्छाओं को बनाये रखती है।

गोबर-मिट्टी से घरों को सजाने की परम्परा के सूत्र हमें प्रागैतिहासिक काल से ही देखने को मिलते हैं। राजस्थान के अलावा मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात में सांझी का यही समय है, जब वर्षा और शरद के संध्याकाल का सम्मिलन होता है। यह वह समय है, जब नई फसल अपनी पकाई में फूली नहीं समाती है और सारे देवता पृथ्वी पर विचरण करने उतर आते हैं।

भाद्र मास की पूर्णिमा, पाटला पूनम से लेकर क्वार कार्तिक की सर्वपितृ अमावस तक मनाई जाने वाली यह सांझी सभी प्रांतों में समान रूप लिये नहीं है। राजस्थान में भी अलग-अलग अंचलों में यह भिन्न रूप लिये है, किंतु जो अंकन उभारे जाते हैं, वे कुल मिलाकर समानधर्मी प्रभाव देते दिखाई देते हैं।

सांझी की जो क्रमवार आकृतियाँ उभारी जाती हैं, वे प्रतिदिन की तिथि से पूर्णतया मेल खाती हुई लगती हैं। यह संगति जहाँ

शाब्दिक रूप से अनुप्रासंगिक लगती है, वहाँ अपने अंतर्गतन में भी यह पूर्णतया प्रासंगिक है। उदाहरण के लिये पाटला पूनम में 'प' वर्ग की पुनरावृत्ति हुई है। इस दिन की बनने वाली सांझी भी इसी दिन की द्योतक है यथा- पाँच हाथ, पाँच पछेते, पाँच फूल। इसी प्रकार एकम को बनने वाली सांझी एकी (एक) संख्या लिये होती है। जैसे- एक डोली, एक थाल, एक कटोरा, एक ढाल, एक तलवार, एक बीजोरा आदि। यह क्रम सभी तिथियों की संज्ञयाओं में मिलता है।

बीज की सांझी में बीरन बेटी, बीजणी, बीजोरा, बछेरी के अंकन की प्रधानता मिलेगी। बीजोरा मिट्टी का बना गुम्बजनुमा ढक्कन होता है, जो भीतर से पोला होता है। बीजणी हवा करने की पंखी को कहते हैं। बछेरी घोड़ी की बच्ची कहलाती है।

तीज की तिबारी तथा तीन की संख्या में चाँद-सूरज-तारा बनाये जाते हैं। तराजू भी इसी दिन बनाई जाती है। तिबारी में तीन बारियाँ अर्थात् खिड़कियाँ होती हैं। इसमें संज्ञयाबाई को अपने भाई की प्रतीक्षा करते हुए दिखाया जाता है। तराजू समताभाव तथा नीर-क्षीर विवेक की प्रतीक है।

चौथ को बनाया जाने वाला चौपड़ एक विशेष प्रकार का खेल है, जो मध्यम तथा उच्च वर्ग का प्रतीक है। अन्य जाति की बालिकाओं द्वारा बनाई जाने वाली संज्ञयाओं में इसकी बजाय चरभर मांडा जाता है। यह खेल चार लड़कियों द्वारा खेला जाता है। इसमें चार कंकड़ होते हैं। इमली के कूंगस की चार चिबटों के सहारे यह खेल चलता है।

पांचम को पान सुपारी और पाँच की संख्या के प्रतीक फूल, सिंघाड़े, पत्तल-दोने आदि बनाये जाते हैं। सामूहिक प्रीतिभोज में ढाक के पत्तों से बने पत्तल-दोनों में भोजन कराने की परम्परा पूरे मेवाड़ प्रदेश में परिव्याप्त है। पान-सुपारी न केवल खाने के अपितु कई धार्मिक अनुष्ठानों में भी काम आते हैं।

छठ को छाबड़ी, छतरी, छाछ-बिलौना के अंकन होते हैं। छाछ बिलौना कृषि की प्रधानता का प्रतीक है। पहले हर घर में गाय, भैंस आदि दुधारू पशु पाले जाते थे, अतः घर-घर छाछ बिलोई जाती थी। सातम को सात की संख्या में विविध प्रतीकों का अंकन किया जाता है। इन प्रतीकों में सात छोटे-छोटे सातिये,

सात तारे जिन्हें सप्तर्षि भी कहते हैं, बनाये जाते हैं। इस दिन साल (चावल) के पौधे भी बनाये जाते हैं। रेगिस्तानी इलाकों में शमी वृक्ष का अंकन बहुतेरा मिलता है।

आठम को अठकली यानी आठ कलियों वाला फूल बनाया जाता है। कृषक परिवारों की सांझी में कहीं-कहीं आल तथा आम का रूपांकन भी देखने को मिलता है।

नवमी को कहीं निसरणी तो कहीं नगाड़े की जोड़ मांडी जाती है। नगाड़े की जोड़ में एक बड़ा नगाड़ा तथा उसके साथ एक छोटा नगाड़ा (नगाड़ी) बनाया जाता है। इस दिन नाव तथा नौ डोकरे-डोकरी भी बनाये जाते हैं। दसमी को वान्दरवाल बनाई जाती है, जिसमें दस कोथलियाँ ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः चार, तीन, दो और एक के रूप में संयुक्त की हुई होती हैं। प्रकाश के प्रतीक दस की संख्या लिये दीये (दीपक) बनाये जाते हैं। कहीं-कहीं दशादेवी तो कहीं घर की कुलदेवी दीयाड़ी भी इस दिन मांडी जाती है।

ग्यारस को गुल्ली डण्डा बनाया जाता है। यह एक खेल है, जिसमें लकड़ी का एक हाथ के करीब डण्डा होता है और आधे-पौन बेंत की गुल्ली होती है। गुल्ली के दोनों ओर के कोये तीखे होते हैं। इसके अलावा जनेऊ का जोड़ा भी कहीं-कहीं बनाया जाता है। इस जोड़े के रूप में दो सीधी अथवा आड़ी-तिरछी रेखाएँ समानान्तर रूप में बनाई जाती हैं। एक और एक मिलकर ग्यारह बनते हैं, इसीलिए एक और एक के रूप में जनेऊ तथा दो गुल्ली-डंडा, दो डंके, झालर-डंका बनाया जाता है। कहीं-कहीं राम-रावण के रूप में रावण के दस मुंड तथा एक मुंड राम का बनाया जाता है, जो अपेक्षाकृत बड़ा, विजय का प्रतीक होता है।

बारस से अमावस तक कोट बनाया जाता है। इस कोट के बीचों बीच संज्ञया की विदाई के रूप में डोली अथवा रथ-गाड़ी बनाई जाती है। इसके चारों ओर संज्ञया के वे सारे छोटे-छोटे अंकन होते हैं, जो पिछले दिनों की संज्ञया में बनाये जाते रहे हैं। इस कोट के चारों ओर का परकोटा मोटेरूप में उभरा हुआ होता है। यह कोट एक प्रकार से पूरा का पूरा किला होता है, जिसमें प्रवेश करने का एक ही मुख्य मार्ग होता है। कोट को देखने पर यह लगता है, यह किसी राजपरिवार का शाही ठाठबाट लिये किला अथवा गढ़-महल है। जैसी संरचना राजा-महाराजाओं के किलों की देखने

को मिलती है, वही सारी संरचना और समृद्धि इस कोट में परिलक्षित होती है, इसलिये यह कोट 'किलाकोट' के नाम से भी जाना जाता है।

चित्रकला के जो छह तत्त्व निर्धारित किये मिलते हैं, सांझी अंकन में अप्रत्यक्ष रूप से उनका प्रभाव परिलक्षित होता है। यहाँ उनका विवेचन द्रष्टव्य है।

रेखा – रेखा का सामान्य अर्थ दो बिन्दुओं के बीच की दूरी से लिया जाता है, किन्तु कला के तत्त्व के रूप में यह रूप अभिव्यक्ति एवं प्रवाह का द्योतक है। प्रतीकात्मक अंकन में रेखा किसी भी आकार की गति एवं शक्ति को प्रतिबिम्बित करती है। कई बार कोई रेखा होती नहीं है, किन्तु दो या अधिक बिन्दुओं के क्रम दिखाने से रेखा का आभास हो जाता है।

रेखा का प्रभाव एक जैसा नहीं होता। यह प्रभाव इस बात पर भी निर्भर करता है कि रेखाओं का रूप कैसा है। कोई रेखा सीधी होती है तो कोई टेढ़ी-मेढ़ी होती है। कोई रेखा प्रखर, अधिक गाढ़ी और अधिक चमकदार होती है तो कोई अधिक पतली, हल्की तथा निस्तेज होती है। कलाकार के मनोविकार तथा मनोभावों से भी इन रेखाओं का बड़ा गहरा संबंध है। कला चिन्तकों ने इन रेखाओं के विभिन्न भेद किये हैं और उनके अनुसार उनसे जुड़ी मनोदशाओं, संवेदनाओं तथा आवेगों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उदाहरण के लिये सीधी लम्बी रेखा जहाँ शक्ति और चित्त की शक्ति की प्रतीक होती है, वहाँ कोणीय रेखा असुरक्षा, व्याकुलता तथा संघर्षदायिनी कही जाती है। यही स्थिति चक्राकार प्रवाही रेखा की है। सांझी चित्रण में जो आकृतियाँ उभारी जाती हैं, वे रेखा प्रधान ही हैं। ये रेखाएँ गोबर से चित्रित होने के कारण मोटा रूप लिये होती हैं।

रूप – रूप का निर्माण किसी का अंक प्रारम्भ करते ही हो जाता है। इस रूप का अपना निश्चित आकार, वर्ण, क्षेत्र और स्थान होता है। चित्रकार अपनी कल्पना के माध्यम से चित्रतल पर जो दृश्य अंकित करता है, उसमें अपनी संवेदनाओं को रूपायित करता चलता है। रेखाओं की तरह रूप का भी बड़ा प्रभाव होता है। विद्वानों ने इस प्रभाव को आयताकार, त्रिभुजाकार, अण्डाकार, वृत्ताकार आदि रूपों में परिभाषित किया है। ऐसे अनेकानेक रूपों में चित्रकार अपनी प्रकृति के अनुसार परिवर्तन करता हुआ अपनी रूचि के अनुसार चित्र तैयार करता है। जो कलाकार जितना अधिक

योग्य, कल्पनाशील तथा ऊर्जावान होगा, उसका रूप-सौन्दर्य उतने ही अधिक रूप में निखार पायेगा। सांझी कला में रूप की समग्र आत्मा विलोडित हुई मिलती है।

वर्ण – वर्ण का अर्थ रंग से है। संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं, जिसमें कोई न कोई वर्ण (रंग) न हो। किसी वस्तु का दिखाई देना ही इस बात का प्रतीक है कि अपने धरातल में वह रंग लिये हुए है। उस धरातल पर प्रकाश की जो किरणें पड़ती हैं, उससे कई बार एक ही रंग की वस्तु अलग-अलग रंग की दिखाई देती है।

रंगों से मनुष्य का बड़ा गहरा संबंध है। कोई मनुष्य किस प्रकार का रंग पसंद करता है, उसके आधार पर उसकी मानसिक स्थिति तथा प्रकृति का अध्ययन किया जा सकता है। सभी मनुष्य समान वर्ण के नहीं होते। यही स्थिति समस्त प्रकृति की है। कहने को सभी वृक्ष-वृक्ष होते हैं। सभी फूल-फूल होते हैं, मगर सभी वृक्ष और सभी फूल समान वर्ण के नहीं होते।

वर्ण के प्रधानतः तीन गुण माने गये हैं। पहला गुण रंग की प्रकृति का है, जिसे रंगत कहते हैं। रंग का यह गुण किसी रंग के गुण अथवा पन से है, जिससे उसकी पहचान है- जैसे पीलापन, हरापन, कालापन, लालपन आदि। इनसे वर्ण के पीला, हरा, काला व लालपन की प्रतीति दर्शकों को स्वतः ही हो जाती है। वर्ण का दूसरा गुण मान कहा गया है, जो रंगत के हल्के अथवा गहरेपन का सूचक है। उदाहरण के लिए किसी रंगत में सफेद रंग मिश्रण करने से उस रंग का मान बढ़ जाता है, किन्तु यदि सफेद की बजाय काला रंग मिला दिया जाय तो उसका मान कम हो जायेगा। तब वह रंग गहरा रंग अथवा हल्का रंग के रूप में अपनी पहचान देगा। कोई रंग तो अपने मूल रूप में पूर्ण रंग होता है। उसका हल्का अथवा गहरा होना उसके मान से सम्बन्धित होना है। रंग की सघनता उसका तीसरा गुण है, जो शुद्धता का परिचायक है। यह सघनता रंग की तीव्रता अथवा प्रखरता पर निर्भर करती है। किसी भी वर्ण में श्वेत-श्याम रंग मिला देने से उसकी सघनता कम की जा सकती है।

शिल्पशास्त्रियों ने वर्ण के भेद, प्रभाव और परिवर्तन का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है। वर्ण के भेदों को ही कई रूपों में परिभाषित किया, किन्तु मोटे रूप में जो भेद किया मिलता है,

उसके अनुसार लाल, सफेद, पीला, काला तथा हरा- ये पाँच मुख्य वर्ण माने गये हैं। कुछ लोग इनके अतिरिक्त सफेद रंग को भी मुख्य वर्ण में सम्मिलित करते पाये जाते हैं। शिल्परत्न में सफेद, काला, लाल, पीला व श्याम रंगों को मुख्य रंग माना गया है, जबकि मानसोल्लास में शेख-चुर्णी सफेद (सुधा), लाल, हरिताल व काजल को मुख्य रंगों के अन्तर्गत माना गया है।

द्वितीयक रंगों के अन्तर्गत दो प्रधान रंगत को मिलाकर जो रंग बनता है, उसका समावेश किया जाता है। उदाहरण के लिए लाल और नीला रंग जब मिलाया जायेगा तो जो रंग बनेगा, वह बैंगनी कहलायेगा। लाल और पीला मिलकर नारंगी रंग हो जायेगा। नीला और पीला यदि मिलाया जायेगा तो वह हरा रंग बन जायेगा। ऐसे ही किन्हीं दो रंगों को मिलाकर जो रंग बनेगा, वह द्वितीयक रंगत के रूप में सम्बोधित किया जायेगा।

इनके अलावा एक तीसरा भेद और है जो समीपवर्तीय वर्ण कहलाता है। इसके अन्तर्गत वे रंग सम्मिलित किये जाते हैं, जो एक श्रेणी या जाति के रंग विद्यमान होते हैं- जैसे पीला, लाल तथा नारंगी रंग। इन तीनों रंग में पीला रंग विद्यमान रहता है। सांझी की सज्जा विविध वर्ण के फूलों से की जाती है, जो अभिनव सौन्दर्य की सृष्टि करती है। इसमें जिन फूलों का प्रयोग किया जाता है, वे भी अपने में दो-तीन रंगों का मिश्रण लिये होते हैं।

तान- तान रंगत के हल्के व गहरेपन को इंगित करता है, जो सफेद व काले रंग (अंश) का द्योतक है। किसी भी रंग में श्वेत व श्याम की मात्रा के अन्तर से अनेक तान प्राप्त किये जा सकते हैं। यह अन्तर बड़ा सन्तुलित हो, तब ही किसी चित्र के आकार में प्रखरता एवं प्रवाह की अभिव्यक्ति हो सकेगी।

तान का प्रभाव किसी भी चित्र को द्विगुणित करता है। दो से अधिक मान के प्रयोग होने से यह प्रभाव बढ़ जाता है। इसलिए इस प्रयोग में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है। काले और सफेद के चिन्ह इस तरह दिये जाय कि वे कलाकार की भावना के अनुरूप चित्र को अधिक उभार दे सकें। उदाहरण के लिये यदि किसी चित्र में संघर्ष तथा उत्तेजना की भावना को प्रदर्शित करना हो, तब दो विरोधाभास वाली तान का प्रयोग वांछनीय होगा। सांझी में गहरे, हल्के फूलों के संयोजन से तान का प्रभाव परिलक्षित होता है।

पोत- पोत यानी टेक्सचर किसी भी वस्तु के धरातल का चरित्र अथवा गण है। प्रकृति में ऐसी अनगिनत चीजें मिलेंगी जो विभिन्न प्रकार के धरातलों में विभक्त हैं। पत्थर, लकड़ी, फूल, पत्ते आदि के विभिन्न प्रकार, रूप, रंग मनुष्य को बरबस ही अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कलाकार इन्हीं वस्तुओं के नाना प्रयोग द्वारा अपने सृजन के कई नये आयाम उद्घाटित करता है।

सभी पदार्थ एक जैसे नहीं होते। पत्थर कठोर होता है तो वृक्ष का पत्ता याकि फूल कोमल होता है। चित्रकार चित्र बनाते समय जो धरातल काम में लेता है, उस पर अपनी अनुभूति द्वारा पोत का निर्माण कर एक विशिष्ट अभिव्यक्ति देता है। प्राचीन समय से लेकर आज तक ताड़पत्र और कागज जैसे धरातल चित्रण के लिये काम में लेकर चित्रकारों ने अपनी अनुभूतियों को विविध रंगीय चित्रों में उकेरा है।

प्रयोगधर्मी कलाकार की कल्पना निरन्तर किसी न किसी नये की खोज में विचरण करती रहती है। यह खोज कोई न कोई उपलब्धि देती ही है। जब मानव ने देखा कि कागज एवं कपड़ों का धरातल बहुत सामान्य हो गया है, तो उसकी दृष्टि प्रकृति के उस महत्वपूर्ण तत्त्व पर गई, जिसे जल कहते हैं। उसने देखा कि भूमि से भी ज्यादा भाग जल का है, तब उसने जल पर ही प्रयोग करने शुरू कर दिये। ऐसे प्रयोग जलचित्र के रूप में देखे जा सकते हैं। जल को बांधकर उस पर कागज की विभिन्न आकृतियों में सूखे रंगों द्वारा बड़ी ही आकर्षक चित्रावलिखाँ बनाई जाती हैं। सांझी में फूल-पत्तों के साथ अनाज के दाने, कांच, कपड़ा, मोती आदि का प्रयोग अधिकाधिक सुन्दर एवं कलात्मक उभार देता है।

अन्तराल - अन्तराल से तात्पर्य उस स्थान से है, जिस पर चित्रकार किसी चित्र को रूपायित करता है। यह स्थान सीमित होता है, किन्तु चित्रकार इस सीमा में अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा असीमित सम्भावनाओं को जन्म दे सकता है। इसमें चित्रकार की अनुभूति का ही कमाल होता है।

कोई चित्रकार चित्र की रूपरेखा तैयार करते समय सबसे पहले चित्रभूमि का विभाजन करता है और इसी के आधार पर वह अपने चित्र को पूर्णता तक पहुँचाता है। यह विभाजन दो प्रकार की विभक्ति लिये होता है, जो सम तथा असम नाम से जानी जाती है। सम में चित्रभूमि को रेखाओं की सहायता से दायें-बायें, ऊपर-

नीचे बराबर भागों में विभक्त की जाती है। यह विभक्ति सन्तुलन, एकता व समता भाव को प्रदर्शित करती है। सांझी में गोहली ही वह अन्तराल होता है, जिस पर प्रतिदिन की नित नवीन संज्ञ्या चितेरी जाती है।

भारतीय तथा अन्य कलाकारों ने इसी विधि का प्रयोग किया। असम विधि सम से बिल्कुल विपरीत है। इसमें विभाजन की परिपाटी इधर के अनुसार उधर को नहीं होकर कलाकार स्वतन्त्र रूप से किसी भी प्रकार का कोई भी विभाजन कर लेता है। इसमें कलाकार की अपनी मौलिकता एवं सृजनक्षमता का ही कमाल देखने को मिलता है। यह विभाजन उत्तेजना, प्रगति एवं चेतनशील भावों को उत्पन्न करने में सहायक होता है।

प्रयोगधर्मी कलाकार अपनी परम्पराओं और चली आती हुई परिपाटियों में बंधा रहना नहीं चाहता। वह नित नये आयाम और सृजन के सन्दर्भ ढूँढने में खोया रहता है, इसीलिए अपने प्रयोगों के माध्यम से वह कोई नई विधि ढूँढ निकालता है, किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस किसी विधि से वह जो भी चित्र सृजित करे, उसमें सन्तुलन बना रहे और जिन तत्त्वों की ओर शिल्पियाँ और शास्त्रकारों ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया, उसका स्वस्थ निर्वाह होता रहे। यह इसलिए भी जरूरी है कि किसी भी कलाकृति का उद्देश्य सामाजिकों में आह्लाद और आनन्द की अनुभूति के साथ-साथ स्वस्थ मानसिकता का पर्यावरण देना ही प्रमुख होता है।

सांझी के संयोजन में इन सब धारणाओं की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष पुष्टि होती है। बालिकाएँ इसकी सज्जा में तन्मय होकर कोई कसर बाकी नहीं रखती हैं। उनके साथ-साथ अन्य लोग भी उन्हें पूरा-पूरा सहयोग करते हैं। बड़े-बूढ़ों की सराहना और प्रशंसा द्वारा लड़कियों में नई-नई उद्भावनाएँ जन्म लेती हैं और सांझी प्रतिवर्ष, प्रतिदिन नये अन्दाज और नई आकांक्षाओं के चित्रपट खोलती हुई दृष्टिगत होती है।

विशिष्ट पद्धतियाँ

यह एक सुखद पक्ष ही है कि लोकचित्रकला के जितने भी विविध स्वरूप मिलते हैं, वे सबके सब किसी न किसी धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सरोकारों की आस्था, विश्वास और जीवनपद्धति से जुड़े हुए हैं, इसलिए इन चित्रों में उन सब पद्धतियों के तत्त्वांकन पाये जाते हैं, जो अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलते

हैं। यहाँ सांझी चित्रों में जिन चित्र-पद्धतियों का प्रयोग हुआ है, उनका जिक्र किया जा रहा है। ये पद्धतियाँ आठ हैं-

रेखाप्रधान- सांझी चित्रों में रेखा प्रधान पद्धति के चित्रों का प्राधान्य मिलता है। गोबर से बनाई जाने के कारण आकृतियों का अंकन अपनी मोटाई के लिए ही विशेष चर्चित रहा है। ये रेखाएँ आड़ी-टेढ़ी न होकर सीधी और सपाट होती हैं, इसीलिए बारीक और घुमावदार आकृतियों का संज्ञ्या चित्रों में अभाव पाया जाता है।

अलंकरणात्मक - अलंकरणात्मक पद्धति में मुख्य चित्र को विशेष रूप से अलंकृत किया जाता है। संज्ञ्या में प्रतिदिन चाँद-सूरज के अलावा जो विविध चित्र मुख्य रूप से उभारे जाते हैं, उन्हें फूलों के विविध रंगों से अलंकृत किया जाता है। इसमें कहीं पूरा फूल, कहीं उसकी कलियों तथा पत्तियों आदि से अच्छी तरह सजाया जाता है। इस सज्जा के साथ-साथ फूलों के रंगों के मेल का भी बड़ा ध्यान रखा जाता है। सफेद रंग के फूल अधिकांशतः लाल रंग के फूलों के साथ शोभित होते हैं। पीले रंग के फूल के साथ सफेद की बजाय अन्य गहरे फूल अथवा पत्तियों की संगत अधिक आकर्षक और वैज्ञानिक दृष्टि से रंग सिद्धान्त को मुखरित किये मिलेगी। इसीलिए लड़कियाँ रंगबिरंगे फूलों का चयन करती हैं और पहले उनके चयन को अपने मन में बिठाकर फिर तदनुकूल उनका समायोजन करती हैं। संज्ञ्या के कोट में तो कई चित्रों को पास-पास सजाना पड़ता है, अतः उनकी अलंकारिता को प्रमुख रूप से दृष्टिगत रखा जाता है।

ज्यामितीय - ज्यामितीय अंकन पद्धति में ज्यामितीय आकारों की प्रधानता रहती है। सांझी चित्रों में इस शैली के अंकों की बड़ी विविधता मिलती है। पछेटे, बिन्दियाँ, सूरज, चाँद, स्वस्तिक आदि के अलावा वृत्त, त्रिभुज, आयत, कोण, षटकोण, अठकोण, रेखा; ये सब ज्यामितीय अंकन कहलाते हैं। फूलों, पक्षियों तथा मानवाकृतियों के अंकन भी कई स्थानों पर ज्यामितीय स्वरूप लिये रहते हैं।

आकृति परक - आकृति परक पद्धति में कल्पना का आधार नहीं होकर आकृतियों को मुख्य रूप में उभारा जाता है। सांझी चित्रों में पूर्णरूप से आकृतियों का ही कमाल रहता है। छोटी-छोटी बालिकाओं की सम्पदा होने के कारण सारे चित्र

यथार्थपरक होते हैं। पंखा, बांदरवाल, निसरणी, चाँद, सूरज, फूल, छाबड़ी, घेवर, खजूर, नगाड़ा, स्वस्तिक आदि जितने भी चित्र उनके द्वारा बनाये जाते हैं, वे सब के सब प्रतिदिन उनकी आँखों से गुजरते हैं और उनकी उपयोगिता तथा गुणधर्मिता से वे भलीभाँति परिचित होती हैं।

कोट में जो भी रथ अथवा गाड़ी बनायी जाती है और अन्य आठी, डोरा, कांगसी जैसे चित्र तथा बाहर की ओर गुजरणी, मालिन, ढोलवादक आदि की जो मानवाकृतियाँ बनाई जाती हैं, उनसे वे पूर्णतः सुपरिचित होती हैं। जसोदा और पेमा जैसे नाम भी आकृति के ही सूचक हैं। फिर इनके साथ जाड़ी और पतली का सम्बोधन उस आकृति को और स्पष्ट कर देता है कि जसोदा अपने डीलडौल में स्थूलकाय है, जबकि पेमा बहुत दुबली-पतली है। पतली और मोटी महिलायें समाज में तथा घर-परिवारों में प्रायः देखने को मिल जाती हैं, इसलिए वे सारी की सारी आकृतियाँ जो सांझी में चित्रित की जाती हैं, लड़कियों के रात-दिन के अनुभव-जगत से जुड़ी हुई होती हैं।

कथाचित्रण - संज्ञ्या की प्रतिदिन की आकृतियों में कथा का कोई क्रम अभिव्यक्त हुआ नहीं मिलता, किन्तु जो आकृतियाँ उभारी जाती हैं, वे इस बात की सूचक हैं कि इनसे संज्ञ्या का अवश्य सम्बन्ध रहा है। अधिकांश आकृतियाँ तो वे हैं, जिनसे संज्ञ्या का अधिक लगाव रहा। जैसे- फूल, छाबड़ी, अठकली फूल, घेवर, पंखा, बीजणी आदि। निसरणी पर चढ़कर संज्ञ्या अपने भाई की बाट जोह रही है। चरभर पछेते आदि बालिकाओं के प्रिय खेल आज भी हैं जो गाँवों में देखे जा सकते हैं। खजूर वृक्ष का फल 'खजूरा' खाने में बड़ा स्वादिष्ट होता है, जिसको पाने के लिए लड़कियाँ एक खजूर से दूसरी खजूर जाती रहती हैं। इस वृक्ष के खोड़िये जलाकर घरों में भोजन बनाया जाता है। खजूर की पत्तियों से झाड़ू, पंखे जैसी कई चीजें बनाई जाती हैं। यह वृक्ष सर्वत्र व्याप्त है।

मन्दिरों में सुबह-शाम भगवान की आरती के समय नगाड़ा-नगाड़ी बजाये जाते हैं। जनेऊ ब्राह्मण धारण करता है। कोट में जो बहुत सारे चित्र बनाये जाते हैं, वे संज्ञ्या के अपने छोटे से पीहर-जीवन की दास्तानों से भरे पड़े हैं। इन चित्रों में मुख्यतः संज्ञ्या की विदाई का दृश्य उभारा जाता है, जिसमें रथ में संज्ञ्या की विदाई दिखाई जाती है।

मानवाकृतियों में नवमी को जो डोकरे-डोकरी बनाये जाते हैं, वे संज्ञ्या के वृद्ध माता-पिता और कुँवारी पांचम को जो कुँवारे-कुँवारी बनाये जाते हैं, वे संज्ञ्या के भाई-बहन हैं।

संज्ञ्या के छोटे-छोटे गीतों में कथा का कोई क्रम नहीं मिलता, किन्तु उनके संकेत पहचाने जा सकते हैं। घरों में जो सामान्य जीवन जीया जाता है और उसमें बालिकायें जिस ढंग से प्राकृतिक परिवेश में अपना जीवन बसर करती हैं, उसका प्रतिबिम्ब एवं प्रतिनिधित्व सांझी चित्रों में सन्निहित है। अतः इस रूप में यह कहा जा सकता है कि संज्ञ्या के हर चित्रावण के पीछे कोई न कोई कथ्य-तन्तु अवश्य छिपा हुआ है, जो उसकी कथा चित्रण शैली को अभिव्यक्त करता पाया जाता है।

क्षेपांकन - हाथ के उपयोग से जो कलाकृति उभारी जाती है, वह क्षेपांकन पद्धति कही जाती है। संज्ञ्या के सभी चित्र हाथ के ही कमाल हैं। डॉ. महेन्द्र भानावत ने इसे थापांकन शैली से सम्बोधित करते हुए इस शैली में बनने वाले राजस्थानी चित्रों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

टुपुक - इस पद्धति के अन्तर्गत अंगुलियों के पोर से दीवार पर जो टपके उभारे जाते हैं, उनका समावेश किया जाता है। मेवाड़ क्षेत्र में ये टुपके टोपे कहलाते हैं। थापों में खासतौर से नाग पंचमी, शीतला सप्तमी, दुर्गाष्टमी, दीयाड़ी नम तथा दशामाता जैसे अंकनों में क्रमशः पांच, सात, आठ, नौ तथा दस बिन्दियाँ लगाई जाती हैं। मेहंदी में भी अंगुलियों के पोरों पर ऐसे ही टुपुक-टोपे लगाये जाते हैं। सांझी में पांच पछेते, पांच तारे, पांच फूल जैसे अंकन इसी पद्धति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

लेपन - सांझी के सभी चित्र दीवाल पर सीधे नहीं बनाकर विशिष्ट प्रकार की पीली अथवा गेरू रंग की गोहली के ऊपर बनाये जाते हैं। यह गोहली हथेली से लीपी जाती है। इसे चारों ओर से सुन्दर तथा एकाकार बनाने के लिए कपड़े अथवा रूई की सहायता ली जाती है। लेपन की यह क्रिया भी एक विशिष्ट प्रकार की पद्धति ही कही जाती है। देवी-देवताओं से जुड़े धार्मिक चित्रों की पृष्ठभूमि में विशिष्ट आधार स्वरूप जो प्रतीक रहे हैं, उनमें इस गोहली का भी विशिष्ट महत्त्व है। यह एक तरह से पूरी दीवाल पर संज्ञ्या के आसन को अलग रूप में प्रतिष्ठित करने की भी सूचक है।

लोक गीतों में विवाह

श्रीमती हेमलता उपाध्याय

हमारा भारत जनपदों का देश है, जिसकी संस्कृति अत्यंत समृद्ध है। यद्यपि विभिन्न अंचलों में हमारी लोक संस्कृति का रूप वैविध्यपूर्ण और बहुरंगी है, किंतु उसका मूलाधार एक है और वह एक सांस्कृतिक सूत्र से परस्पर आबद्ध है।

गाँव लोक संस्कृति के केन्द्र हैं। गाँव के निरक्षर किसान के पास उसकी अपनी सांस्कृतिक परंपराएँ हैं, जो उसे पीढ़ी दर पीढ़ी विरासत से मिलती रही हैं। उन पर उसका अटूट विश्वास होता है और यही लोक विश्वास जीवन की कुंजी है। इसी से लोक संस्कृति में जन-जन की भागीदारिता होती है। किसी भी संस्कृति का परिचय उसकी वाचिक परंपरा की विविध विधाओं से मिल जाता है। लोक साहित्य में गीतों का अक्षय भंडार है। आदिम युग से चले आ रहे लोक गीत लोक जीवन की धड़कनें हैं। वे समय और शब्द के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लोक गीतों को वेद की संज्ञा दी है।

वास्तव में गीत मनुष्य का स्वभाव है। हमारे कृषि प्रधान देश का किसान गाते हुये हल चलाता है और मजदूर कुदाल चलाता है तो गाता है, स्त्रियाँ चक्की पीसते, दही बिलोते गाती जाती हैं। निरंतर प्रवहमान लोकगीतों की अजस्र धारा जीवन को आनंददायी बनाती है और जीवन स्वयं एक संगीत प्रतीत होता है। गीतों में जीवन की प्रत्येक गतिविधियों के दर्शन होते हैं। इनमें जीवन के सुख-दुख, जन्म-मरण, सगाई-विवाह, पर्व-त्योहार, रीति-रिवाज, धर्म-कर्म, अतीत और वर्तमान के संस्कार मिलते हैं। ये गीत किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं, वरन् समूह द्वारा रचे गये हैं और इनमें व्यक्तिगत नहीं समष्टिगत अभिव्यक्ति होती है। हर अवसर को गीत बना देने की शक्ति केवल लोक में ही होती है।

यों तो शास्त्रों में हमारे षोडश संस्कारों का उल्लेख है, किन्तु लोक जीवन में कुछ प्रमुख संस्कारों का संपादन किया जाता है, जिनमें विवाह संस्कार जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक संस्कार है, जिसे अत्यंत उल्लास पूर्वक मनाया जाता है। हमारे देश के विभिन्न प्रांतों में विवाह संस्कार के कार्य थोड़े बहुत अंतर के साथ सामान्य रूप से एक जैसे सम्पन्न होते हैं। विवाह संस्कार के हर अवसर के अलग-अलग गीत होते हैं। वैवाहिक गीतों का वर्ण्य विषय विविध रंगी और विस्तृत होता है। इन गीतों में हमारे पारिवारिक जीवन की उदात्त कल्पनाएँ संजोई गई हैं।

वर एवं वधू पक्ष द्वारा विवाह तय होने पर पंडित द्वारा विवाह तिथि तथा विवाह के अन्य कार्यक्रम एवं उनके शुभ मुहूर्त लिख कर दिये जाते हैं, जिसे 'लगन टीप' या 'लगन पत्री' कहते हैं। लगन टीप के स्वागत में उत्साह से महिलाएँ गा उठती हैं-

*चटपट लोंग री बधाई, हलळरी बधाई
बधाई म्हारा अंगणा में आई*

इसके बाद ही शुभ-विवाह हेतु 'पाँच मुहूर्त' के कार्य होते हैं। सर्वप्रथम लोकदेवता विघ्न विनाशक, कार्यसाधक श्री गणेश जी की स्थापना व पूजन करके बड़ी तोड़ना, गेहूँ-धान फटकना और हल्दी कूटना तथा चूल्हे कोठी की मिट्टी लाना, चूल्हे कोठी बनाना, लड्डू, गुणी-घुँघरी बनाने के कार्य उत्सव पूर्वक नृत्य-गान सहित किये जाते हैं।

शुभ विवाह की निमंत्रण पत्रिकाएँ रिश्तेदारों और आत्मीयजनों को भेजने से पूर्व श्री गणेश व कुलदेवी को निमंत्रण दिया जाता है। सहृदय गणेशजी तो तत्काल विवाह समारोह में सम्मिलित होकर सारे माँगलिक कार्य निर्विघ्न संपन्न करवाते हैं। उनकी पूजा का यह गीत बहुत प्रसिद्ध है-

*दोंद दोंदाल्यों रे गणपति सदा मतवाळो
कई चलो गणेश अपुणा सोनी घर जावां
कई गयाणा घड़ाई बेगा आवां न रे,
म्हारो गणेश धोंदाल्यों*

विवाह के शुभ अवसर पर ससुर, पिता, जेठ, भाई और कोख को बधाई दी जाती है, जिसके कारण यह शुभ दिन आया

है और विवाह वाले घर में दशरथ जैसे पिता, कौशल्या जैसी माँ, राम-लक्ष्मण जैसे भाई और सुभद्रा जैसी बहन पधारती हैं। विवाह में आने वाले मेहमानों के दूध से पाँव पखारे जाते हैं तथा कुंकुं - अक्षत, केशर, चंदन से उनका स्वागत किया जाता है। स्वागत में यह गीत गाया जाता है।

*हजार पान सुपारी डेढ़ सौ
हां जी तुम घर निवतो शरद जवई राजा आवणो*

देवी पूजन के समय मान गीत गाये जाते हैं। एक गीत की झलक देखिये-

*माता पानड़-पानड़ दिया बळ
थारा दिवळड़ा ख लागी जगा जोत रे
आज म्हारा यहां सीतला माता पावणी*

विवाह प्रारंभ होने पर सुहावने प्रभात और संध्या का गीतों में स्वागत किया जाता है। प्रातः काल का कुकड़ा देखिये-

*कुकड़ा थारा रे बोलत सब जागिया
जाग्या ते चारई देव, बोल वचन का रे कूकड़ा*

और संध्या समय सांजुली गीत कानों में रस घोलते हैं-

*दिया बत्ती हुयो रे मिलाप तो
वयलड़ी सांजुली जी*

और भी -

*जी हो यही रे दीवळो इंद्र लुहार घड्यो
जेम पुख्यो सवा पळो तेल, सोहन डांडी दिया हो बळ*

विवाह के समय दूल्हा-दुल्हन को राजा-रानी की तरह प्रतिष्ठा व मान-सम्मान दिया जाता है। सुहागनें उन्हें प्रतिदिन सुवासित तेल-उबटन, इत्र लगाकर गीत गाते हुये दूध से नहलाती हैं और उनका श्रृंगार करती हैं। तेल चढ़ाते समय वे गाती हैं-

*तेल फुलेल, चंपा केरी कलियां
जुपजे रे तेली तू घाणी
आधो तेल न आधो पाणी
तेल चढ़ाव मोठा भाई की राणी*

और साथ ही वर-वधू की सारी बलायें अपने पर ले लेने की भावना व्यक्त करते हुये गाती हैं-

कौण सा जी की बाला बलैया
कंचन बाई तेल चढ़ाव जी
सुरेश जी की बाल बलैया
कंचन बाई तेल चढ़ाव जी

उबटन करते हुये महिलायें गाती जाती हैं -

गउं रे चणा केरो उगरूणों राय हो
चमेली री तेल रायजादो बयठयो उगसणो

और फिर आँगन में नहलाते हुए ये गीत चलता है-

गाज्यो नी गरज्यो सखि बाई,
महुलड़ो सो बरस्या राज
आं गणा मं कीचड़ सखि बाई
किन्न कियो जी

अर्थात् न बिजली चमकी न बादल गरजे-फिर पानी कैसे बरसा जो आँगन में कीचड़ मच गया? अरे हाँ! पिताजी का लाड़ला बेटा आज सवा घड़े दूध से नहा रहा है, आँगन में इस कारण कीचड़ मच रहा है।

विवाह प्रारंभ होते ही घर में आनंद का वातावरण बन जाता है और हर सदस्य खुशी के रंग में रंगकर औरों को भी शामिल करता है। यहाँ तक कि पशु-पक्षियों को भी आमंत्रित कर विवाह घर की शोभा और आनंद बढ़ाने का आग्रह किया जाता है, देखिये-

तुम तो आवजो न रे अंबा बन का सोगीटा
आज वीराजी घर सोयलो

विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले बनरा याने बन्ना-बन्नी लोक गीतों का भी निराला ठाट है। इन्हें हम हास्य-विनोद और श्रृंगार की त्रिवेणी कह सकते हैं। बन्ना-बन्नी गीत दुल्हा-दुल्हन के प्रेम, श्रृंगार परम्परा आकर्षण के कोमलतम भावों के और मधुर गीत हैं। नवयुवा को दूल्हे की सजधज में देख स्त्रियाँ उमंग और उत्साह से गा उठती हैं-

बट्या- बट्या रे कौशल्या री गोद,
रामचन्द्र दुल्लन बव्या (बण्या)

फिर तो बन्ना-बन्नी गीतों की धूम मच जाती है, एक गीत समाप्त हुआ नहीं कि दूसरा तुरंत आरंभ होता है-

बनाजी तुम बम्बई जाजो जी
वहां सी लावजो जाळई री चूनड़ी

बन्नी वर की प्रतीक्षा करते हुये पूछती है-

हो बन्नी पूछ बनाजी सी वात्
रायवर काई हो गया था

और बन्ना भी मजाकिया अंदाज में बन्नी को चिढ़ाते हुये कहता है-

हो बन्नी गया था सोनी दुकान
वहां गयना घड़वाई रह्या था
अरे वहां सोनी की छोरी मजेदार
वहीं रे बिलमाय गया था

ऐसे असंख्य सरस मधुर बन्ना-बन्नी गीत गाते हुए दूल्हा-दुल्हन का बड़े धूमधाम से समारोहपूर्वक बाना (विनायकी) निकाला जाता है। घोड़े तथा बग्घी पर वधू के पीछे-पीछे महिलायें गाते हुए चलती हैं। स्थान-स्थान पर वर-वधू का स्वागत सम्मान किया जाता है। इस अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में से एक प्रसिद्ध गीत सुनिये-

सड़क पर आफू की क्यारी
सड़क पर केसर की क्यारी
नवल बनाजी को रथ सिंगारयो
हवा करो प्यारी, रे हवा करो प्यारी

विवाह में मण्डप बनाना और छाना एक अत्यंत प्रमुख और महत्वपूर्ण अवसर है। विवाह के शेष सभी कार्य फिर मण्डप में ही संपादित होते हैं। इस अवसर पर गाये जाने वाले मंगल गीत में वरमाता अपनी सखी से कहती है-

भंव्र्यो संव्र्यो न रे दशरथ दरबार
सहेली अंबो भंवरियो

अर्थात् जैसे आमवृक्ष में मौर आ गये हैं, वह फलने योग्य है, वैसे ही मेरा पुत्र भी अब युवा होकर विवाह योग्य हो गया है। सखी, आनंद का अवसर उपस्थित हुआ है।

मंडप स्थापना के बाद उसकी प्रतिष्ठा व नवग्रह शांति पूजा अत्यंत श्रद्धापूर्वक की जाती है। मंडप के दिन 'मामेरा' एक अत्यंत मार्मिक व महत्त्वपूर्ण अवसर रहता है। गृहस्वामी को उसके कुटुम्बीजनों सहित वर-वधू के मामा पक्ष से वस्त्रादि भेंट दिये जाते हैं। भाई द्वारा बहिन की कुटुंब सहित पेरावणी से वह सम्मानित और आनंदित होती है। इस अवसर पर अनेक भावपूर्ण, सरस मार्मिक गीत गाये जाते हैं। वरमाता का मन गा उठता है-

*अंगणा मंडवाज जंगी ढोल,
महळ बाजा बाजिया जी*

तथा-

आज तो सांवलियों वीरो, मायरो लई आयो माई

सुख के ऐसे क्षणों में अपने पूर्वजों की याद आना अत्यंत स्वाभाविक है। उनकी याद में बरबस आँसू आ ही जाते हैं और इस दिन वरमाता अपने कुटुम्बीजनों सहित पूर्वजों का विवाह में सम्मिलित होने का निमंत्रण उच्चाकाश में उड़ने वाली गीधनी के द्वारा पहुँचाती है और पूर्वजों का उत्तर भी गीधनी लाती है। इस कार्य को 'रूखड़ी न्यूनतना' कहते हैं। इस अवसर का यह गीत अत्यंत करुण और मार्मिक है-

*सरग भवन्ति ओ गिरधरनी, एक संदेसो लई जाव
सरग का मोठा भाई सी यूं कयजो तुम घर नाती को ब्याव
और पूर्वज उत्तर देते हैं -*

*जेम सर रे ओम सारजो, हमारो तो आवाणू नी होय
ताला जड्या लोहा बंद का, जड़ीदिया वजीर किवाड़।*

अर्थात् तुम इस कार्य को जैसा सधे वैसा निपटा लो, हमारा आना संभव नहीं, क्योंकि मृत्यु रूपी विशाल दरवाजे बंद हैं, जिसमें लोहे की बड़ी-बड़ी अरगलायें पड़ी हैं। सभी परिवारजन पूर्वजों और बिछुड़े प्रियजनों की याद में व्याकुल हो जाते हैं और सबकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं। वास्तव में इस गीत में हमारे मन की मजबूरियों का सजीव चित्रण है।

शुभ विवाह में इस करुण प्रसंग के उपरान्त पुनः हास-परिहास आनंद का वातावरण निर्मित होता है। रिवाज के अनुसार वरमाता का नृत्य और महिलाओं के मंगल गान से महिलायें गाती हैं-

म्हारा हरिया मंडप माय लाग्यो लाग्यो रे दुई नैना सी ...

और फिर देर रात तक गाना-बजाना और नृत्य तथा हास-परिहास चलता रहता है।

अगले दिन बारात सज-धज के साथ वर-वधू घर जाने के लिये तैयार होती है। वरमाता मंडप के तोरण में दूल्हे को 'पड़छती' है। पड़छना याने दूल्हे की सुरक्षा करना, बुरी नजर से और किसी भी प्रकार की अलाय-बलाय से। पड़छते समय महिलायें ये गीत गाती हैं-

*सखि हो पड़छो भीमघर की नार
सांवळ हरि की आरती
सखि हो असो म्हारा यहां नित नवो होय*

और फिर बारात प्रस्थान करती है, तब उत्साह और आनंद के स्वर गूँजने लगते हैं, महिलायें गाती हैं-

*कूण माई न हल दुली मोल करी हो
सुंदर वर ललना
कूण माई न खरच्या छे दाम
श्याम सैयजादी बहना*

बारात को जनवासे तक छोड़ महिलायें बधाइयाँ गाते हुये वापिस मंडप में आती हैं। विदा का कोई भी क्षण हो वह दुःखी कर देता है। वास्तव में विवाह पूर्व तक पुत्र पर माँ का पूर्ण अधिकार होता है, किंतु परिणय के बाद पुत्र का लगाव और प्रेम माँ और पत्नी के बीच बँट जाता है। माँ बड़े लाड़-प्यार और जतन से पुत्र को पाल-पोसकर बड़े अरमानों से उसका विवाह करती है और खुशी-खुशी अपना पुत्र भावनात्मक स्तर पर बहू को सौंप देती है। इस समय माँ के मन की बड़ी विचित्र दशा होती है, उसे सुख और दुःख दोनों का एक साथ अनुभव होता है। वह अपनी सखी से अपनी इस मनोदशा का वर्णन करते हुये कहती है-

हऊं तो पचरन जी मन मं नी जाणती

सई तो हम घर आणंद बधावणो
हऊं तो पुत्र परणाऊं बेऊ चार बइणी
वो तो बऊवर आया पुत्र लई गया
म्हारो पुत्र परायो होय,
बइणी वो हम घर आणंद बधावणो

अर्थात् सखि, मैं नहीं जानती कि अचानक मेरा मन ऐसा कैसा हो गया कि मुझे आनंद भी हो रहा है और दुःख भी। मैंने जो बाग लगाया था, उसके फूल मालन ले गई। आम की कैरियाँ जैसे कोयल ले गई, वैसे ही विवाह करने पर बहू ने मेरे पुत्र को ले लिया और मेरा ही पुत्र पराया हो गया। इसका मुझे दुःख हो रहा है और उसका विवाह कर मैं आनंदित हो रही हूँ।

वधू के द्वार पर बारात पहुँचने पर द्वारचार, स्वागत, सत्कार, मिलन-भेंट का कार्यक्रम होता है। वधू की सखियाँ उसे घर की छत से वर की शोभा निहारने का सुझाव देते हुये गाती हैं-

दादाजी रा मैहल चढ़ी झाँकी ल
ओ दिल मोहन बंदड़ी
कसा बण्या न सरदार, ओर दिल मोहन बंदड़ी

ऐसे ही एक अन्य भोजपुरी गीत में सखियाँ कहती हैं-

इमरत आवे मिथिलेस के भवनवा हाय रे जियरा।

वर पक्ष की ओर से वधू को 'चढ़ाना' या 'रूप्या' चढ़ता है। तदनन्तर कन्यादान या पाणिग्रहण का सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार संपन्न होता है। इसे वैदिक पंडित मंत्रोच्चार तथा विधि-विधानपूर्वक संपन्न करते हैं। माता-पिता अपनी कन्या का हाथ (पाणि) वर को सौंपते हैं और क्षणभर में ही उनके कलेजे का टुकड़ा पराया हो जाता है। लगन पूर्व वर को वस्त्र आभूषण आदि देते समय भी गीत गाये जाते हैं-

बना का सासरिया सी हो, बनाजी पागा आई राज।

कन्यादान के इस करुण किंतु सुखद क्षणों में महिलाएँ अत्यंत मार्मिक गीत गाती हैं-

नीच्ची उच्ची सखरिया री पाल तो
साजन-साजन जुआं खेल जी

खेलत जो खेलत पड़ी गयो डोल तो,
कूण हार्यो ने कूण जीत्याजी
हार्या- हार्या लाड़कली रा पिताजी तो
गढ़वा हो साजन जीती गया जी

कन्यादान के पश्चात् विवाह के दो विधि-विधान अत्यंत प्रसिद्ध और आवश्यक हैं- सप्तपदी और सिंदूरदान। सप्तपदी याने भांवरों के समय प्रज्वलित अग्नि के वर-वधू सात फेरे लेते हैं और परस्पर प्रेम एवं दाम्पत्य जीवन के कर्तव्य पालन की प्रतिज्ञायें करते हैं। सिंदूरदान के अंतर्गत वर-वधू की मांग में सौभाग्य सूचक सिंदूर भरता है तथा सुहागनियाँ उन्हें आशीर्वाद देती हैं। भांवरों के समय बड़े मधुर और शिक्षाप्रद गीत गाये जाते हैं। एक गढ़वाली लोक गीत की ये पंक्तियाँ देखिये-

दी देवी बाबा जी कन्या को दान
दानू मा दान होले कन्या को दान
हीरादान मोतीदान सब कोई देला
तुम देला बाबा जी कन्या को दान

अर्थात् सब दानों में कन्या दान सर्वश्रेष्ठ है। सात फेरे पड़ते समय भी कन्या अपने को माता-पिता के घर का अभिन्न अंग समझती है, किंतु सातवीं भांवर लेते ही वह दूसरे की हो जाती है। देखिये एक बघेली विवाह लोक गीत में ये भाव-

छठी भंवरि फिरि आइऊं बाबा
अबहूँ तम्हारी हौं हो
× × ×
सतई भंवरि फिरि आइऊं माता
अब भइऊं पराई हौं हो।

विवाह के कार्यक्रमों के चलते बारातियों व आमंत्रित मेहमानों का भोजन भी चलता रहता है। भोजन के समय गाये जाने वाले गीतों को 'जिमणार' या जेवनार कहते हैं। इस अवसर पर समर्थियों को प्रेम से गालियाँ दी जाती हैं, जिनमें अश्लीलता नहीं होती और न ही किसी को दुःख पहुँचाने की भावना। हास- परिहास और प्रेम से भरी ये गालियाँ चटनी की तरह चटकदार होती हैं। एक भोजपुरी गीत में कहा गया है कि जेवनार की ये गालियाँ प्रेम के रस से सराबोर, बड़ी सुहावनी तथा प्यारी लगती हैं।

तुलसीदास जी ने भी राम विवाह वर्णन में जेवनार के समय गाली गाने का उल्लेख किया है-

कुंदनपुर की नार कृष्ण हिल मिल गावऽ गालीऽ

कन्या की विदाई का क्षण आ जाता है। बेटी की विदा का दृश्य देख महाकवि भवभूति की अनायास यह पंक्ति याद आ जाती है-

अपि गावा गेदति, अपि दलति वजसय हृदयम्।

सचमुच विदा के कारुणिक अवसर पर पाषाण हृदय भी पिघल जाता है। महर्षि कण्व का हृदय भी अपनी शकुन्तला की विदाई करते समय कांप उठा था। बेटी निमाड़ की हो या मालवा की, गुजरात, बंगाल, पंजाब या केरल की, विवाह के बाद अपना नीड़ छोड़ने की व्यथा सबको एक जैसे सालती है। अपनी कोख से उत्पन्न हृदय के टुकड़े को विदाई देते हुये किस माता-पिता का दिल द्रवित नहीं होता होगा?

निमाड़ और मालवा में इस अवसर पर गाये जाने वाले इस गीत की पंक्तियाँ किसी को भी व्याकुल कर देंगी-

*आला नीला बांस की बंसुरी, वो भी बजती जाय
अन्नु भाई की बईण छे लाड़ली, वो भी सासर जाय
छोड़्यो छे मायक्यो माहिरो, छोड़्यो पिताजी को लाड़
छोड़ी छे भाई केरी भावरी, छोड़्यो फुतलायं को ख्याल
छोड़्यो छे सई केरो सईपणो, लाग्या दुल्लवजी का साथ।*

यदि आप संसार के करुण लोक गीतों से परिचित होना चाहते हैं तो कन्या की विदाई से संबंधित लोक गीत पढ़िये- सुनिये। इनमें कहीं रंभाते बछड़े की तरह माँ से बिछड़ने वाली बेटी का करुण स्वर सुनेंगे, तो कहीं बेटी की याद में रो देने वाले पिता की व्यथा देख सकेंगे। एक अन्य विदाई गीत में देखिये-

*बाबा के रोवले गंगा बढ़ि अइली
आमा के रोवले अनोर
भइया के रोवले चरन धोती भींजे,
भऊजी नयनवां ना लोर*

अर्थात् विदा के क्षणों में बाबा के रोने से गंगा में बाढ़ आ जाती है, माँ के रोने से धरती काँप जाती है, भाई इतना रोता है कि

चौमासा

धोती पांव तक भीग जाती है। बेटी भी मानो पिता से शिकायत करते हुये कहती है- पिताजी आपने भइया को तो महल- अटारी दिये और मुझे परदेस क्यों दिया? वह अपना दर्द इन शब्दों में व्यक्त करती है-

*काहे को ब्याही विदेस, रे लक्खी बाबुल मेरे
हम तो रे बाबुल, तेरे खूटे की गैया,*

एक पंजाबी कन्या कहती है-

*साडा चिड़िया दा चम्बा वे,
बाबल असी उड़ जाना
साडी लम्बी उठारो वे, बाबल केहड़े देस जाना।*

निमाड़ और मालवा की कन्याओं की व्यथा और शिकायत भी सुनिये-

*काहे ख पालई रे बाबुल, काहे ख पोसी,
काहे पिलायो काचो दूध जी,
माया ख पालई रे बाबुल माया ख पोसी
ममता पिलायो काचो दूध जी...*

विदा कर जनवासे पहुँचाते हुये महिलायें बेटी से कहती हैं-

*पछाफिरो-पछाफिरो लाड़ी बाई, पिताजी ख देवो असीस
और बेटी जाते-जाते अपने पिता को आशीर्वाद देते हुये
कहती है...*

*खाजो- पीजो पिताजी राज करजो।
जीवजो ते करोड़ बरीस।*

जनवासे तक पहुँचाते हुये माता कन्या को सीख देते हुये कहती है -

*मात कहे बात भली सुण सुंदरी
लक्षघरी बात न निभावजे वो स्याणी
कुल न लजावजे*

और आगे समझाती चलती है-

*ठंडा लीमड़ा री छाया, वसी माता-पिता की माया
माया तोड़णुं पड़से कि सासर जाणुं पड़से*

भला किसकी आँखों में आँसू थम जायेंगे? इस राजस्थानी गीत की मार्मिकता तो देखिये..

*वनखण्ड की ऐ कोयल, वनखण्ड छोड़ कहा चली।
थारी छोटी बैनड़ रोवे अकेली
थारो वीरो सा फिरे रे उदास।।*

अंत में माता अपने दामाद और उनकी माँ से प्रणाम सहित निवेदन करती है कि मेरी बेटी अभी नादान है। उसकी गलतियों को क्षमा करना। उसे सखियों के साथ खेलने देना, उसे भूख जल्दी लगती है, सो कृपा पूर्वक जल्दी कलेवा देना और काम भी अभी अधिक मत करवाना। देखिये गीत के बोल -

*जाई न नंदजी की राणी ख, म्हारोपगा लागणो कयजो।
म्हारी राधिका भूख की आकलई जल्दी कलेवो ओख दीजो जी।*

वास्तव में विदा के ये गीत करुण रस के सुवर्ण कलश हैं, जिनसे सरसता छलक पड़ती है। क्षेत्रीय बोली और भाषा की दृष्टि से भिन्न होने पर भी भावनाओं के स्तर पर वे अभिन्न रहे हैं।

बारात दुल्हन लेकर घर लौटती है तो उत्साह और उमंग का सागर उमड़ पड़ता है और चारों ओर आनंद में बधाई बजने लगती है। महिलाएँ स्वागत करते हुए गा उठती हैं-

*आज सखि श्याम सुंदर ब्याही,
आज सिया राम की बधाई...*

छत्तीसगढ़ी विवाह गीत

लिकेश्वर वर्मा

छत्तीसगढ़ राज्य आदिकाल से विभिन्न धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु रहा है। शत-शत वर्षों के राजनैतिक उथल-पुथल और ऐतिहासिक परिवर्तनों के बावजूद छत्तीसगढ़ ने अपनी अनेक प्राचीन परम्पराओं को अक्षुण्ण रखा है। यहाँ की शस्य-श्यामला भूमि में अनेक संस्कृतियों का उद्भव तथा विकास हुआ, जिसकी स्मृति में उपासना-गृह, धरोहर एवं कलाकृतियाँ आज भी विद्यमान हैं। भौगोलिक दृष्टि से छत्तीसगढ़ मेखला, सिहावा, रामगिरि एवं अमरकंटक जैसे पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ तथा सुरम्य सघन वनों से आच्छादित है। महानदी और उसकी सहायक शिवना तथा इन्द्रावती छत्तीसगढ़ की प्रमुख नदियाँ हैं- जो हसदो, पैरी, खारुन, अरपा, जोंक तथा सोंदूर जैसी सहायक नदियों सहित इस प्रदेश को सिंचित करती हैं।

छत्तीसगढ़ को प्राचीनकाल में अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता रहा है। छत्तीसगढ़ शब्द का अर्थ होता है- 36 गढ़ रहा अर्थात् किले। जो भू-भाग इन दिनों छत्तीसगढ़ के नाम से प्रख्यात है, वह सदैव इस नाम से नहीं पुकारा जाता था। छत्तीसगढ़ शब्द का उल्लेख न पुराणों में है, न और कहीं। महाभारत, रामायण, प्राचीन कथावार्ता-कहीं भी यह नाम नहीं पाया जाता। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इस भू-भाग के लिये छत्तीसगढ़ नाम सन् 1493 के लगभग प्रचार में आया। इसके पहले प्रस्तुत छत्तीसगढ़ क्षेत्र के लिये सर्वत्र कोसल, महाकोसल या दक्षिण कोसल नाम का प्रयोग हुआ है। रायबहादुर हीरालाल जैसे विद्वान का मत है कि इस भू-भाग में सैकड़ों वर्षों तक चेटियवंशी राजाओं का राज्य रहा। अतः इसे 'चेदीशगढ़' कहा जाने लगा होगा, उससे परिवर्तित होकर 'छत्तीसगढ़' बना है, परन्तु हीरालाल जी के इस अनुमान से विद्वान सहमत नहीं हैं। इसका नाम महाकोशल अथवा 'महाकोसल' सम्भवतः

हैहयवंशी राजाओं का दिया हुआ जान पड़ता है कि कार्तवीर्य सहस्रार्जुन के वंशज चेदि हैहयों ने जिनका कि इस ओर लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक राज्य रहा, इसकी महत्ता बढ़ाने के लिये इसे महाकोसल कहना आरम्भ कर दिया हो- ठीक उसी तरह जैसे नदी का नाम महानदी हो गया, छोटे इलाके का नाम महासमुन्द हो गया, आराध्या देवी का नाम महामाया हो गया और राजाओं का नाम भी 'महाशिवगुप्त' आदि हो गया।

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की सम् पूर्वक 'कृञ्' धातु से 'धञ्' प्रत्यय करके की गई है (सम्+कृ+घञ् = संस्कार) और इसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिये किये जाने वाले अनुष्ठानों में से है, जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके। किन्तु हिन्दू-संस्कारों में अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार ही न होकर संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में संस्कारों की संख्या भिन्न-भिन्न है, परन्तु सर्वाधिक लोकप्रिय सोलह संस्कार हैं। इन सोलह संस्कारों में विवाह का हिन्दू संस्कारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

छत्तीसगढ़ में विवाह सामाजिक कार्य के साथ ही एक धार्मिक संस्कार भी है। विवाह निर्धारण से लेकर विवाह सम्पन्न होने तक की क्रियाकलापों पर सूक्ष्म-दृष्टिपात करने पर अनेक नैतिक, धार्मिक व सामाजिक पक्ष उभर कर सामने आते हैं। स्मृतियों ने आठ प्रकार के विवाह को मान्यता दी है, वे इस प्रकार हैं- ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापात्य, असुर, गांधर्व, राक्षस तथा पैशाच। शास्त्रोक्त आठ प्रकार के विवाहों में सामान्य भारतीय जीवन में ब्राह्म-विवाह की विधि ही मुख्य रूप से प्रचलित है, जिसमें कन्या का पिता अथवा अभिभावक उसे वस्त्राभूषण से अलंकृत कर योग्य वर को बुलाकर कन्यादान करता है। बिहाव यथार्थ में ब्राह्म-विवाह का ही छत्तीसगढ़ी नाम है। छत्तीसगढ़ में ब्राह्मण, वैश्य, सुनार, ठाकुर, लोधी, पनिका, कुर्मी, अहीर, गोंड, महार, सतनामी, उरांव, कोरकू, शबर इत्यादि जातियाँ निवास करती हैं। छत्तीसगढ़ में विवाह के मुख्यतः बिहाव, चुरी-पहिरई, गुरांवट, बरेण्डी भराई इत्यादि प्रकार पारम्परिक रूप से प्रचलित हैं, परन्तु

आज संस्कृति के इस संक्रमण काल में प्रेम-विवाह तथा सामूहिक विवाह को भी सामाजिक मान्यता प्राप्त है। शास्त्रोक्त भारतीय विवाह की पृष्ठभूमि में यदि छत्तीसगढ़ के विवाह का मूल्यांकन किया जाये तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि जहाँ दोनों में अनेक समानताओं की एक ही प्राण-धारा है, वहाँ कुछ भिन्नताएँ भी हैं। भारतीय जीवन से लुप्त अनेक प्राचीन मान्यताएँ आज भी छत्तीसगढ़ में किसी न किसी रूप में जीवित हैं, जो छत्तीसगढ़ की अपनी विशेषता है।

छत्तीसगढ़ के लोकगीतों की सुदीर्घ परम्परा में संस्कार गीतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह-संस्कार के समय गाये जाने वाले गीत बिहाव-गीत कहलाते हैं। छत्तीसगढ़ के प्रत्येक समाज व जाति में थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ विवाह संस्कार सम्पन्न होते हैं। रस्म-रिवाजों को नेग कहा जाता है। विभिन्न नेगों के समय लोक में विवाह गीत गाने का प्रचलन है। इन गीतों में समसामयिक सामाजिक मान्यताओं, नैतिक मूल्यों तथा धार्मिक रीति-रिवाजों का सटीक चित्रण होता है। साथ ही मनोविनोद व हास-परिहास के पुट भी मिलते हैं। छत्तीसगढ़ में निम्नलिखित वैवाहिक आचार हैं, जिन अवसरों पर गीत गाये जाते हैं- मंगनी, मण्डपाच्छादन, चुलमाटी, तेलचघी, मायमौरी, नहडोरी, परघौनी, भड़ौनी, भांवर, दहेज तथा विदाई इत्यादि।

मंगनी - वैवाहिक सम्बन्धों की पहली सीढ़ी मंगनी होती है। वर-पक्ष किसी व्यक्ति के माध्यम से वधू-पक्ष तक पहुँचता है, उस व्यक्ति को 'सटका' कहते हैं। सामान्यतः सटका को दोनों पक्षों की पर्याप्त जानकारी होती है। कन्या वर-पक्ष के लोगों के समक्ष जलपान लेकर आती है और उसी समय कन्या एवं वर एक-दूसरे को देखते हैं। पुरानी परम्परा में लड़के का पिता या अभिभावक परिवार के बड़े-बुजुर्गों के साथ अपने पुत्र के लिये वधू चुनते थे, जिसे वर द्वारा स्वीकारना पड़ता था। परन्तु आज परिस्थिति अलग है। अब तो लड़के एवं लड़कियों को खुलकर बात करने की स्वतंत्रता भी दी जाती है। मंगली-जचनी अर्थात् भली प्रकार से जांच परखकर राशि मिलान कर सगाई सम्पन्न होती है। सगाई को मंगनी फलदान, चुरी-पटका व चुमा लेना भी कहा जाता है। इस अवसर पर नारियल, चना, गुड़ या इलायची दाने का प्रसाद वितरित किया जाता है।

ऊंचे चौरा बबा ओ चौपलिया
 धन तुलसी के पेड़ हो
 जेहि तरि बैठि बिटिया
 वोही तरि हिंगुन सोना हो
 हार गढ़इया बबा टिकली गढ़इया
 नथनी गढ़इया हो
 अतका पहिर के बिटिया चऊक में बइठे
 गिरे मोती कर बूंद हो...
 का थोरे होगे बिटिया
 काहे बर बदन मलिन हो
 सोन थोर होगे, के रूप थोर होगे, काहे बर...
 न बबा सोन थोरे, न बबा रूप थोर
 न बबा बदन मलिन,
 हम बबा गोरे-गोरे, प्रभुजी हैं कारे-कारे
 ऐ बर बदन मलिन हो
 कारे गोरे बिटिया
 झिन कांही कहिबे
 कारे हैं सिरि भगवान हो
 माई के कोख कुम्हार के आवा
 कोई कारे कोई गोर हो।

तुलसी के पौधे को छत्तीसगढ़ में देवी के रूप में पूजा जाता है। हर आँगन में तुलसी का चौरा बनाकर उस पर प्रतिदिन दीपक जलाया जाता है। प्रस्तुत गीत में दादाजी द्वारा प्रदत्त सुंदर हार, बिंदिया और नथनी के बावजूद बेटी के दुखी होने का मार्मिक चित्रण है। दादाजी के पूछने पर कि क्या स्वर्णाभूषण कम हैं? बेटी कहती है- मैं गोरी हूँ और प्रभुजी श्रीकृष्ण काले हैं, इसीलिये मेरा बदन मलीन है न कि आभूषण कम होने से। गीत की अंतिम पंक्ति 'माई के कोख कुम्हार के आवा, कोई कारे कोई गोर हो' में बताया गया है कि माँ की कोख और कुम्हार की भट्ठी दोनों समान है। बाहर आने पर कोई काला तो कोई गोरा होता है। ऐसी मान्यता है कि मानव योनि बड़े भाग्य से मिलती है, जिसे पाने के लिये कठिन तप करना पड़ता है। यहाँ पर कुम्हार की भट्ठी उसी तप का प्रतीक है। साथ ही गीत में कोई गोरा कोई काला पंक्ति समाज के नानाविध लोगों की ओर इंगित करती है, जिनमें से कोई अमीर-गरीब, सुंदर, ज्ञानी तथा अनपढ़, सबल और निर्बल इत्यादि होते हैं।

मण्डपाच्छादन - मण्डप या मड़वा एक महत्वपूर्ण स्थान होता है, जिसके नीचे विवाह की सारी रस्में अदा की जाती हैं। मण्डप बनाने के लिये आम, जामुन आदि पेड़ों की पत्तीदार शाखाओं तथा बाँस का उपयोग किया जाता है। गीतों में सरई और सागौन की पत्तियों का भी उल्लेख मिलता है। इस मण्डप के नीचे कलश को प्राकृतिक साधन जैसे- चावल, गेरु, हल्दी तथा चूना के माध्यम से अत्यंत आकर्षक ढंग से सजाकर रखा जाता है।

सरई सरगोना के दाई मड़वा छवई ले।
 बर बिहे के रहि जाय,
 कि ये मोर दाई सीता ल बिहावे राजा राम।
 धरती के तीर-तीर दाई पंडकी परेवना
 कनकी ल चुनि-चुनि खाय.....

लोक-जीवन में वर को श्रीराम तथा वधू को सीता सदृश माना जाता है। उक्त गीत में साल और सागौन की पत्तियों से सुसज्जित मण्डप के नीचे श्रीराम और सीता के विवाह का वर्णन है। ऐसा लगता है मानो चिड़ियाँ भी विवाह में आमंत्रित हैं, जो कनकी (चावल का टूटा हुआ दाना) को चुग-चुग कर खा रही हैं। इससे लोक का प्रकृति के प्रति आकर्षण व प्रेम का प्रतिपादन भी होता है।

चुलमाटी - 'चुल' का अर्थ है चूल्हा और 'माटी' का अर्थ है मिट्टी। विवाह के अवसर पर विशेष रूप से चूल्हे बनाने के लिये तालाब, नदी, गाँव का गोठान या कोई अन्य पवित्र स्थान से मिट्टी लाने की रस्म चुलमाटी कहलाता है। स्त्रियाँ गीत गाती हुई पराँ में दीप सजाकर मिट्टी के लिये जाती हैं। सात या पाँच सुवासिन धान बाँटकर ओली में रखती हैं। मिट्टी खोदते हुए सुवासा पर नारियाँ समवेत स्वर में गीत गाती हुई व्यंग्यात्मक प्रहार करती जाती हैं। चुलमाटी को प्राचीनकाल में 'मृदाहरण' की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। इस प्रथा का जन्म लोक में निहित है। गदाधर द्वारा उद्घृत ज्योतिर्निबन्ध में कहा गया है कि 'प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में मंगल-सज्जा के लिये पल्लवों का व्यवहार करना चाहिये। विवाह के पूर्व नवें, सातवें, पाँचवें अथवा तीसरे दिन शुभ अवसर पर नृत्य तथा संगीत के साथ घर के पूर्व या उत्तर की ओर से मिट्टी के बर्तन या बाँस की टोकरी में अंकुर उगाने के लिये मिट्टी लेने जाना चाहिये।'

तोला माटी कोड़े ल नइ आवय मीत धीरे-धीरे
धीरे-धीरे तोर कनिहा ला ढील धीरे-धीरे
जतके पोरसय ओतके ला लील धीरे-धीरे।

× × ×
तोला साबर धरे ल नई आवय गा
जनम के लेइगा, खटिया जठा ले,
कोदो पैरा बिछाले, नई तो भुइयाँ म लोट।

इस गीत का मुख्य स्वर व्यंग्य है। गीत के माध्यम से स्त्रियाँ मिट्टी खोदने वाले पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि तुम्हें मिट्टी खोदना तो आता नहीं, लेकिन खाने में माहिर हो। तुम्हें सब्बल पकड़ना भी नहीं आता, एक काम करो कोदो पैरा का बिस्तर खाट में बिछाकर सो जाओ और ये भी न मिले तो जमीन पर सो जाओ। छत्तीसगढ़ लोक-जीवन कृषि-संस्कृति पर आधारित है, जिसकी पुष्टि में इस गीत में होती है।

तेलचघी - तेलचघी का अर्थ है तेल चढ़ना। विवाह के समय वर-वधू पर तेल चढ़ाये जाने के अवसर पर नारियों द्वारा गाये जाने वाले गीत तेलचघी के गीत कहलाते हैं। इन गीतों में मुख्य रूप से इस अवसर पर विभिन्न सम्बन्धियों द्वारा सम्पन्न की जाने वाली क्रियाओं तथा उपयोग में आने वाली वस्तुओं के उत्पन्न होने तथा प्राप्त होने के स्थानों का वर्णन मिलता है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है- राम एवं सीता प्राचीन काल से ही भारतीय वर-वधू के आदर्श हैं। इस गीत में भी राम-लक्ष्मण को तेल चढ़ाये जाने का उल्लेख मिलता है।

घर के ओ निकले हरियर-हरियर
मड़वा मा धियरी के बदन मलीन
काहे बिन धियरी हो अनमन-दुनमन
काहे बिन धियरी के बदन मलीन।

यद्यपि विवाह का प्रसंग मंगलमय है, किन्तु लड़की का मन अपने घर छूटने की कल्पना मात्र से व्याकुल होकर उसका चेहरा मुरझा गया है।

एक तेल चढ़िगे वो हरियर-हरियर
मड़वा म दुलरु तोर बदन कुम्हलाय
कोन तोर लाने हरदी सुपारी
कोन तोर लाने कांचा तिली काई तेल...

राम लखन के तेल वो चढ़त हे
बाजा बजत हे निसान

इस गीत में हर्ष की ध्वनि अपेक्षाकृत अधिक है। लोक में जिस तरह गीत, नृत्य सब अनायास स्फुट होते हैं, उसी तरह चिकित्सा के लिये भी प्राकृतिक साधन उपलब्ध होते हैं। हल्दी का प्रकृति उष्ण होता है और वर-वधू की शारीरिक उष्णता को कम करने के लिए ही शायद तिल के तेल का प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं गीत में भी तेली से सरसों का तेल न निकालकर तिल का तेल निकालने का आग्रह भी मिलता है। इस गीत में सींगबाजा या गुदुम नाम से प्रचलित निसान अवनद्ध वाद्य का उल्लेख भी मिलता है

नहडोरी - नह+डोरी अर्थात् नहलाकर डोरी बाँधना। बारात प्रस्थान के पूर्व वर को नहलाने का रस्म नहडोरी कहलाता है। वैवाहिक स्नान का उल्लेख 'गोभिल गृह्यसूत्र' में भी मिलता है। स्नान के पश्चात् कंकण-बंधन की क्रिया आती है। यह रीति प्राचीनकाल में अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि ऐसा विश्वास था कि अपने हाथ में कंकण या रक्षा बंधे होने के कारण इस समय से समावेश (यौन-सम्बंध) के पूर्व वर और वधू को किसी प्रकार के संकट या आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता था।

दे तो दाई, दे तो दाई असी ओ रुपैया
सुंदरी ला लानतेंव बिहाय
सुन्दरी-सुन्दरी रटन धरे बाबू
सुन्दरी के देस बड़ दूर
तोर बर लानिहौं रंधनी-परोसनी
मोर बरघर के सिंगार

प्रस्तुत गीत में वर की मनोभावना का दिग्दर्शन है। वह अपनी माँ से अस्सी रुपये देने की याचना करता है ताकि सुंदरी (वधू) को ब्याह कर ला सके। माँ कहती है- सुंदरी का देश बहुत दूर है, फिर भी वह अपनी माँ को समझाने का प्रयास करता है कि सुंदरी के आने से दोहरा लाभ है- तुझे गृहस्थी के कामों के लिये एक सहायिका मिल जायेगी और स्वयं तो वह मेरा श्रृंगार होगी। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य में अधिकांश: नारी-जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद-विवशता का चित्रण किया गया है, परन्तु

प्रस्तुत गीत में वधू को वर-श्रृंगार कहकर पुरुष के जीवन में नारी के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है।

परघौनी – परधाना का अर्थ स्वागत करना है। जब बारात वधू के गाँव पहुँचती है तो नारियाँ स्वागत के लिये थाली में दीप जलाकर गीत गाती हुई पहुँचती हैं। इन गीतों में कहीं शिव की बारात का वर्णन होता है तो कहीं समाज में व्याप्त बुराइयों पर कटाक्ष भी होता है। एक गीत की कुछ पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप दृष्टव्य है-

कामा समोखों साहेब हथिया अऊ घोड़वा
कामा समोखिहों बरात हो।
कामा समोखिहों भोगी समधी ला
ओही मोर दल के सिंगार हो।
बगरी समोखों साहेब हथिया घोड़वा
भाते दे समोखिहों बरात हो।
दाइज दे समोखिहों भोगी ओ समधी ला
बेटी दे के दुलरू दमाद हो।

प्रस्तुत गीत में वधू के चिंतित पिता की मनः स्थिति का मार्मिक चित्रण है। वह कहता है कि हाथी, घोड़े व बारातियों को कुछ खिलाकर संतुष्ट कर लूँगा, लेकिन भोगी और लालची समधी को तो दहेज देकर ही संतुष्ट करना पड़ेगा। समाज में व्याप्त दहेज रूपी 'सुरसा' जिसका मुख क्रमशः बढ़ता जा रहा है, की चिंता लोक में देखी जा सकती है। बारात स्वागत के अवसर पर स्त्रियाँ भड़वनी गीत गाती हैं। बाराती पक्ष में आये सदस्यों को तथा वर के सम्बन्धियों को गीत के माध्यम से गाली दी जाती है।

नदिया के तिर के पटवा भाजी
उल्हवा-उल्हवा दिखथे रे
आये हे बरतिया मन हा
बुढ़वा-बुढ़वा दिखथ रे।
राती-राती आए बरतिया दिखें कवल के फूल हो
दफड़ा बरोबर छतिया दिखत है, घोड़ा बरन तोर मुंह हो
सूप बरन तोर कान दिखत है, ऊँट बरन तोर मुंह हो।

ये गालियाँ मात्र परिहास में गायी जाती हैं, बाराती इसका बुरा नहीं मानते। भोजन के साथ गालियों का स्वाद भी लेते हैं।

लोकगीत मौखिक परम्परा में जीवित रहते हैं। अतः इन गीतों के रचनाकार तथा काल अज्ञात होते हैं। लेकिन यह कहा जा सकता है कि लोक का साहित्यिक एवं सांगीतिक सौन्दर्य-बोध अद्वितीय है। गीत गाती महिलाएँ अपने आसपास उपलब्ध प्राकृतिक वस्तुओं एवं जीव-जंतुओं से बारातियों की तुलना कर उपमालंकार का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। ये महिलाएँ इतनी निपुण होती हैं कि बारातियों के रूप, पोशाक एवं चाल-ढाल पर व्यंग्य कसने के लिए तुरंत गीतों में पंक्तियाँ जोड़ती जाती हैं।

भांवर – भांवर का अर्थ है परिक्रमा करना या फेरे लेना। मण्डप के नीचे अग्नि को साक्षी मानकर पाणिग्रहण संस्कार होता है। वर-वधू परिक्रमा के अवसर पर गाये जाने वाले गीत भांवर गीत कहलाते हैं।

मधुरि-मधुरि पग धारव हो दुल्हन नोनी
तुहरं रजवा के अंग झन डोलय हो..
सुरहीन गईया के गोबर मंगई के
ओ तो खूंट धरि अंगना लिपइले हो।
अगरी चाउँ के बगरी पिसाने ओ
ओ तो मोतियन चौंक पुराये हो..

प्रस्तुत गीत में वर एवं वधू दोनों से धीरे-धीरे चलने के लिये कहा जाता है, जिससे दोनों को कष्ट न हो। सुरहीन गईया के गोबर से आँगन लीपकर चावल के आटे से मोतियों की तरह चौक पूर दो। वर-वधू की ओर देखता हुआ कहता है कि तुम क्यों रो रही हो। इन गीतों में कहीं न कहीं अथर्ववेद एवं गृह्यसूत्रों में वर्णित पाणिग्रहण सम्बंधी बातों का उल्लेख है। वर- वधू का दाहिना हाथ यह कहकर ग्रहण करता है कि 'मैं सौभाग्य के लिए तेरा पाणिग्रहण कर रहा हूँ, तू मुझ पति के साथ दीर्घायु हो।' यह रस्म कन्या का दायित्व तथा भार सम्भालने का प्रतीक है। सुरहीन गईया के प्रयोग से लोक-जीवन में मिथक के प्रयोग की पुष्टि भी होती है।

दहेज- विवाह के अवसर पर वर-वधू को दिया जाने वाला भेंट दहेज या टिकावज कहलाता है। मण्डप के नीचे ही वर-कन्या के पाँव पखारकर चावल के दाने को माथे में टीककर उपहार दिये जाते हैं। इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत टिकावन या दहेज के गीत कहलाते हैं।

हलर-हलर मड़वा डोलय वो
ये वो मोर दीदी खलर-खलर दाईज परे वो
कोन तोर देवै मोर अचहर-पचहर
कोन देवै धेनु गाय...

छत्तीसगढ़ में पचहर दहेज देने की प्रथा है। पचहर में पाँच प्रकार के बर्तन होते हैं, जिनमें धान या चावल भरकर दिया जाता है। इन गीतों का निर्माण कब और किन परिस्थितियों में हुआ, यह अनुमान लगाना कठिन कार्य है, लेकिन ये गीत दहेज की पुरानी परम्परा को सिद्ध करती हैं।

विदाई - विदाई विवाह का सबसे अधिक मार्मिक क्षण होता है। माता-पिता अपने हृदय में पत्थर रखकर अपनी लाड़ली को सदैव के लिये किसी अन्य के हाथ में सौंप देते हैं। माता-पिता के प्रेम की जिस छाया में बेटी पली-बढ़ी है, एक दिन उससे दूर जाना पड़ता है। बेटी की विदा के समय माँ को लगता है कि काश कन्या का जन्म ही न हुआ होता।

बिटिया के संचरत जान पड़तेंव
अंडी के पान ल खा लेतेंव
कोखिया ल पार लेतेंव बाँझ
बेटवा के संचरत जान पड़तेंव
नौबत नगारा ल बजवातेंव
करतेंव मोतिन के दान।

आज पुत्री के जन्म को अभिशाप समझकर न जाने कितनी

भ्रूण हत्याएँ होती हैं। अगर लोकगीतों पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि बेटा और बेटी में अंतर करने की इस भयावह सामाजिक दशा की जड़ लोक में भी है। प्रस्तुत गीत में माँ विलाप करती हुई कहती है कि अगर मुझे मालूम होता है कि मेरी कोख में कन्या का संचार हुआ है तो स्वयं विष का सेवन कर लेती या फिर बाँझ ही रह जाती। दूसरी ओर कहती है कि यही अगर पुत्र होता तो नौबत, नगाड़ा बजवाकर तथा मोतियों का दान कर अत्यंत हर्षित होती।

छत्तीसगढ़ के लोकगीतों का वर्ण्य-विषय अत्यंत व्यापक है। ये गीत जीवन के अनुभवों से पुष्पित एवं पल्लवित होते हैं। इसलिये इनमें कृत्रिमता का अभाव है। विवाह-गीतों की संख्या अपार है। प्रत्येक दो या तीन गाँव के बाद गीत की भाषा व पात्र बदल जाते हैं। विवाह-गीतों के अथाह समुद्र से मोती स्वरूप कुछ गीतों का उल्लेख किया गया है, गीतों में लोक का प्रकृति-प्रेम और जीवन में धर्म और संस्कार की महत्ता का प्रतिपादन है।

आज के इस वैश्वीकरण या भू-मण्डलीकरण के युग में लोक-जीवन भी बदला-बदला सा लगता है। आधुनिकता की अंधी दौड़ में हम अपनी संस्कृति एवं सभ्यता से दूर होते जा रहे हैं। आज इन पारम्परिक विवाह-गीतों की जगह फिल्मी या बेहद फूहड़ छत्तीसगढ़ी गीतों ने ले लिया है। हमारा जीवन इतना कृत्रिम एवं बनावटी हो गया है कि हम अपनी पारम्परिक धरोहर से विमुख होते जा रहे हैं। आवश्यकता है इन लोकगीतों में निहित सौन्दर्य, लोक-दर्शन एवं संदेश को समझने की।

सन्दर्भ

1. प्यारेलाल गुप्त : प्राचीन छत्तीसगढ़
2. डॉ. बल्देव प्रसाद मिश्र : छत्तीसगढ़ परिचय
3. डॉ. राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार
4. हनुमत नायडू : छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का लोकतात्विक तथा मनोवैज्ञानिक अनुशीलन
5. डॉ. पीसीलाल यादव : छत्तीसगढ़ी संस्कार गीत
6. डॉ. शकुंतला वर्मा : छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और लोकसाहित्य का अध्ययन

कनपुरिया संस्कार गीत

मनीष कुमार पाण्डेय

उत्तरप्रदेश में स्थित कानपुर (देहात) जनपद लोक साहित्य की दृष्टि से काफी समृद्ध है। जनपद में संस्कार गीतों का प्राचुर्य है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सोलहों संस्कारों में समयानुरूप गीत गाये जाते हैं, किन्तु नगरीय सभ्यता के अतिक्रमण से कुछ संस्कार गीत संस्कारों के न किये जाने कारण विलुप्त हो गये हैं, अथवा उन संस्कारों को करने की विधि में नगरीय सभ्यता का हस्तक्षेप होने से अवसरानुरूप गीतों का अस्तित्व समाप्ति की ओर है। जैसे अन्नप्राशन, पुंसवन आदि में गाये जाने वाले गीत। इसके बावजूद लोक ने अपने ढंग से कई संस्कारों को सहेजा हुआ है।

कानपुर (देहात) जनपद के समीपवर्ती और सीमावर्ती जनपदों में पूर्व दिशा में फतेहपुर, कानपुर नगर, पश्चिम में औरैया, कन्नौज, उत्तर दिशा में कानपुर नगर तथा दक्षिण में हमीरपुर एवं जालौन हैं। जनपद की भूमि उपजाऊ एवं गंगा, यमुना जैसी पवित्र एवं बड़ी नदियों से सिंचित कृषि के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जनपद का अधिकांश भू-भाग समतल होने के कारण यहाँ की जीविका का मुख्य आधार कृषि ही है। समशीतोष्ण जलवायु होने के कारण यहाँ गर्मी एवं सर्दी का चरम रूप भी देखा जा सकता है। जहाँ ग्रीष्म ऋतु की उष्णता वहीं शीत ऋतु की सर्दी भी जनजीवन को काफी प्रभावित करती है।

सीमावर्ती जनपदों के प्रभाव के कारण यहाँ की बोली का अत्यन्त संक्रमित रूप ही दिखाई देता है। जनपद की बोली में कन्नौज जनपद से प्रभावित कन्नौजी के शब्दों (चलिहौ, बुलाइलेव, जाति हैं) का प्रभाव देखा जा सकता है। वहीं औरैया के समीपवर्ती ग्रामों

में ब्रज बोली का वर्चस्व दिखाई देता है। इसी प्रकार हमीरपुर एवं जालौन के समीपवर्ती ग्रामों में बुन्देलखण्डी का प्रभाव भी दिखाई देता है। कानपुर नगर से पूर्व एवं उत्तर दिशा से घिरे होने के कारण कानपुर की अवधी बोली का भी वर्चस्व जनपद की बोली में है। अतः इन सभी बोलियों कन्नौजी, ब्रजी, बुन्देलखण्डी, अवधी का सम्मिश्रित रूप जनपद की बोली में आसानी से देखा जा सकता है। इन तमाम बोलियों की बहुलता के कारण कानपुर (देहात) जनपद की बोली निर्धारित करने में विद्वानों में मत वैभन्न है। कुछ विद्वान कन्नौजी का प्रभाव देखते हुए यहाँ की बोली को कन्नौजी बताते हैं, तो कुछ विद्वान अवधी का भी प्रभाव देखते हुए यहाँ की बोली को अवधी मानते हैं। इसी प्रकार बुन्देलखण्डी को भी कुछ विद्वानों ने प्रमुखता दी है, किन्तु प्रामाणिक तौर पर इन चारों बोलियों में किसी एक का नाम देना अत्यन्त कठिन है। अतः विद्वानों ने विभिन्न बोलियों के इस संक्रमित रूप को एक नया ही नाम दिया है। यह नाम जनपद के नाम के ही आधार पर दिया गया नाम 'कनपुरिया' है।

मनुष्य का सामाजिक जीवन सफल बनाने के लिए वर्ण और आश्रम के साथ संस्कारों की भी व्यवस्था की गई है। 'संस्कार' शब्द की व्युत्पत्ति समपूर्वक 'कृज' प्रत्यय करके की गई है। संस्कार शब्द का अन्य भाषा में यथातथ्य अनुवाद करना असंभव है, किन्तु अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का 'सेक्रामेण्ट' शब्द है। जिसका अर्थ है, धार्मिक विधान अथवा कृत्य जो आन्तरिक तथा आत्मिक सौन्दर्य का वाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है। अद्वैत वेदान्ती, जीव पर शारीरिक क्रियाओं के मिथ्या आरोप को तथा नैयायिक भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यंजक शक्ति को 'संस्कार' समझते हैं (डॉ. कैलाशचन्द्र जैन-प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएँ, पृष्ठ-45)। संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग जिन अर्थों में हुआ है, वे इस प्रकार हैं-शिक्षा, संस्कृति, सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण संबंधी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, शुद्धि-क्रिया, धार्मिक विधिविधान, अभिषेक, धारणा, कार्य का परिणाम तथा क्रिया की विशेषता। अतः संस्कारों का अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों में से है, जिनसे वह व्यक्ति समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके, अर्थात् भारतीय

सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने, उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने तथा उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को समाजोपयोगी बनाने के लिए व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और नैतिक परिष्कार आवश्यक माना गया है। परिष्कार या शुद्धीकरण की पद्धति को ही संस्कार की संज्ञा दी गई है। चूंकि जीवन को परिष्कृत करने की प्रक्रिया जीवन पर्यन्त तक चलती है। अतः इसीलिए संस्कार भी जीवन पर्यन्त तक चलते हैं। हिन्दू समाज में संस्कारों की संख्या 16 बताई गयी है। इन संस्कारों का उद्देश्य एक विशेष स्थिति और आयु में व्यक्ति को उसके सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान कराना है।

लोक साहित्य में संस्कार गीतों का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इन गीतों में संस्कारों का सांगोपांग वर्णन होता है। संस्कारों के समय जितनी भी प्रथाओं का पालन होता है, जितने भी लोकाचारों का सम्पादन होता है, उन सबका निर्देशन करने वाले लोकगीत ही होते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि संस्कारों और लोक साहित्य का बहुत घनिष्ठ संबंध है। समाज में जिनको शास्त्रीय पद्धति के द्वारा मंत्रोच्चारण के साथ सम्पन्न किया जाता है। इनके सम्पादन के लिए पुरोहित की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु शास्त्रीय पद्धति के समानान्तर लौकिक पद्धति भी चलती है। एक ओर मंत्रोच्चारण होता है और दूसरी ओर स्त्रियाँ लोकगीतों द्वारा अनेक प्रथाओं और अनुष्ठानों को भी चलाती हैं। उपनयन, विवाह जैसे संस्कारों में अनेक ऐसी प्रथाएँ हैं, जिन्हें पुरोहित सम्पन्न नहीं कराता है, स्त्रियाँ ही उसे पूरा कर लेती हैं। शेष संस्कार विशुद्ध लौकिक रीति द्वारा सम्पन्न होते हैं। इनमें जिन लोकाचारों का पालन किया जाता है, उनका उल्लेख न तो शास्त्र में ही होता है और न उसके अनुष्ठान के लिए पुरोहित की ही आवश्यकता होती है, स्त्रियाँ ही लोकगीतों के साथ इनको कर लेती हैं। इन संस्कारों में गाए जाने वाले लोकगीतों का महत्त्व किसी भी प्रकार से मंत्रों से कम नहीं माना जाता है। संस्कार गीतों के महत्त्व को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि लोक साहित्य आज भी लोक को अनुप्राणित करने की शक्ति रखता है, वह केवल अतीत की वस्तु न होकर पूर्णरूप से सामान्य लोक मानस की शिराओं में प्रवहमान है।

संस्कार गीतों का प्रारंभ जन्म के समय के पहले से होता है। जन्म के बाद सम्पादित किये जाने वाले अनेक लोकाचारों में

स्त्रियाँ गीत गाती हैं। मुख्यतः जन्म के समय गाये जाने वाले गीतों को सोहर कहते हैं। इन सोहरों का वर्ण्य विषय श्रृंगार रस से युक्त होता है। इनमें दम्पति की रतिक्रीड़ा, गर्भिणी की स्थिति, ननद-भाभी की शर्त, नवजात शिशु का रुदन, माता का आनन्दित होना, सास-ससुर तथा पुत्र के पिता आदि का उल्लास अनेक कार्यों के सम्पादन में नेग का मांगा जाना और दिया जाना आदि विषयों का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसके अतिरिक्त इन सोहर गीतों में करुणा का सागर भी उमड़ता दिखाई पड़ता है। कुछ सोहर गीतों में सीता के वनवास, बाँझ के दुःख, हरिण का मारा जाना और उसकी खाल मांगा जाना, संतान जन्म के समय सास-जेठानी का आना आदि स्त्री जीवन की पीड़ा दुःख और कारुणिक स्थिति की सटीक व्याख्या करने वाले होते हैं। स्त्री की चरम आकांक्षा मातृत्व में होती है, अतः संतान प्राप्ति की इच्छा का होना स्वाभाविक ही है। इस कामना को लेकर अनेक गीतों की रचना लोक कवियों ने की है। इन गीतों में गर्भवती स्त्री सपने में संतान को विभिन्न रूपों में आँगन में खेलते हुए देखती है। इस प्रकार का एक उदाहरण यहाँ दृष्टव्य है-

अंगना मा हरी हरी दूब घनौचिन केवला मेरे लाल।
 पहिले पहर केरो सपना सास रानी तुम सुनौ मेरे लाल।
 राम लखन दोनों भइया, अंगन मा खेल रहे मेरे लाल।
 दुसरे पहर केरो सपना जिठानी रानी तुम सुनौ मेरे लाल।
 बेला चमेली ई दोनों बहिनी अंगन मेरे फूल रहीं मेरे लाल।
 तिसरे पहर केरो सपना ननद रानी तुम सुनौ मेरे लाल।
 गंगा यमुना ई दोनों बहिनी, अंगन मेरे बह रही मेरे लाल।
 चौथे पहर केरो सपना देवर लाला, तुम सुनौ मेरे लाल।
 चन्दा और सूरज ई दोनों भइया अंगन मेरे उड़ मेरे लाल।

(स्रोत- श्रीमती निर्मला तिवारी, ग्राम-खेड़ा सनाया, भोगनीपुर, कानुपुर देहात)

इस सोहरगीत में गर्भिणी सपने में अपने आँगन को केवड़ा और हरी दूब से भरा देखती है। वह रात्रि के प्रत्येक पहर में विभिन्न दृश्यों को सपने में देखती है। राम-लक्ष्मण, गंगा-यमुना, बेला-चमेली, सूर्य-चन्द्रमा ये सभी उसे प्रति पहर आँगन में बालरूप में खेल दिखाई देते हैं। कुछ गीतों में तो जन्म के समय हुए अशुभ कार्यों को भी शुभ मान लिया जाता है, जबकि सामान्यतः उसे अशुभ मानते हैं। छींक, कौए का बाईं तरफ बोलना आदि। इस प्रकार का उल्लेख सगुना गीत में मिलता है।

भले री माई सगुना आज भये-2

छींकत पनिया मैं गइती, भले री माई बायें बोले काग।
 दूध दुहावन मैं गइती, भले री माई बछड़ा मारी लात।
 दोहनी फूटी दूध बिखर गयो,
 भले री माई कम्मर मा आई गई चोट।
 को धौ दिखावै दोहनी रे, भले री माई को धौ पिसावै गुड़ सोंठ।
 सासू पूछै बहू दोहनी रे, भले री माई संझ्या पूछै कहाँ चोट।

(स्रोत- श्रीमती निर्मला तिवारी, ग्राम-खेड़ा सनाया, भोगनीपुर, कानुपुर देहात)

इस गीत में स्त्री कहती है- हे माँ! छींक के बाद पानी लेने गई और कौआ बोल रहा था तथा दूध दुहते समय बछड़ा लात मार देता है, जिससे दोहनी फूट जाती है और मेरी कमर में चोट आ जाती है। दोहनी फूट जाने पर सास दोहनी के बारे में पूछती है, जबकि पति चोट के बारे में पूछते हैं। यह गीत कानपुर देहात जनपद में सगुना गीत के नाम से प्रसिद्ध है। जन्म के समय या वर्षगाँठ में ये गीत गाये जाते हैं। संस्कार गीतों में कहीं-कहीं लोकजन के चिकित्सकीय ज्ञान का भी परिचय मिलता है। जैसे-

सोंठ के लडुआ चरफरे री
 द्वारे ठाढ़े ससुर समझावै, एक बहू लडुआ हमहू का दे देव।
 आधा देत मोरी उंगरी दुखत है, पूरा देव नहि जाय।
 सोंठ के लडुआ चरफरे री।

इसमें नवप्रसूता के लिए स्वास्थ्यकर औषधियों सोंठ, सूखे मेवे आदि का उल्लेख है, जिनके स्वाद को देखते हुए सभी के मन में उन्हें खाने की इच्छा हो रही है। जन्म के बाद होने वाले संस्कारों में नाल क्षीर, जिसमें शिशु के जन्म के बाद ध्याय (दाई) शिशु के मुँह में उँगली डालकर साफ करने के बाद उसकी जीभ में शहद रखती है, जिससे शिशु की पाचन क्रिया ठीक हो जाती है। इसके बाद दाई शिशु के नाल को काटती है, इस अवसर पर सरिया गीत गाये जाते हैं, जिनका वर्ण्यविषय गर्भवती स्त्री की पीड़ा तथा कहीं पर पति द्वारा दाई को लेने जाने का वर्णन मिलता है। नालक्षीर संस्कार में दाई को नेग भी दिया जाता है। जन्म के छठे दिन लड़के तथा पाँचवे दिन लड़की का छठी संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में सूतिका गृह एवं पूरे घर की सफाई की जाती है। शिशु की बुआ नवजात शिशु को स्नान के बाद आँखों में काजल लगाती है, जिसे आँखें राँजना कहते हैं। शिशु के चाचा

छत पर बैठकर आँगन में रखी आग में गूगुल, लोबान डालते हैं जिसे तिरवा घालना कहते हैं। इन दोनों ही कार्यों को सम्पादित करने वाले को नेग देने की प्रथा है। आग में गूगुल लोबान डालने का तात्पर्य नवजात शिशु को बुरी नज़र से बचाने, भूत-प्रेतों आदि से सुरक्षा के लिए किया जाता है। छठी के बाद एक वर्ष से कम आयु (जन्म के पाँचवें, सातवें, नौवें एवं ग्यारहवें) माह में अथवा जन्म के तीसरे, पाँचवें, सातवें, ग्यारहवें अर्थात् विषम वर्ष में मुंडन संस्कार किया जाता है। इस संस्कार से पहले बालक के बालों को काटना निषिद्ध माना जाता है। इसमें किसी तीर्थ स्थान, देवस्थान अथवा समाधि स्थल में बालक के सिर मुड़वाते हैं। इस संस्कार में बालक की बुआ का कार्य प्रमुख होता है। बुआ आटे की लोई में बालक के बालों को भरकर उस स्थान के देवी या देवता या समाधि स्थल पर चढ़ाती है, जिसे 'लोई लेना' कहते हैं। बदले में उन्हें नेग भी दिया जाता है। मुंडन के गीतों में बालक के रिश्तेदारों का हर्ष उल्लास का वर्णन मिलता है। इनमें बाबा कहीं अपने पौत्र के लिए सोने का छुरा बनवाने की बात करते हैं, तो कहीं अवसर में शामिल होने के लिए बुआ जी चली आ रही है। चाची जी पूरे नगर में बुलावा दे रही हैं तो कहीं बड़ी-बड़ी पूड़ियाँ भाभी जी बना रहीं हैं। बुआ जी खुशी से नाचती हैं। उदाहरणार्थ यहाँ दिया गया मुण्डन गीत दर्शनीय है-

जो मैं जनती रामचन्द लाला मुड़नो तुम्हार।
 सोने का छुरवा गढ़ावै तौ बाबा तुम्हार।
 लाल पियर नहिं पहिनै तौ माया तुम्हार।
 ऊँची गदहिया चढ़ि आवै तौ बुआ तुम्हार।
 नगर बुलउवा लगावै तौ चाची तुम्हारी।
 बड़ी-बड़ी पुड़ियां बनावै तौ भाभी तुम्हारी।
 नगर बुलउवा लगावै तौ फूफा तुम्हार।
 द्वारे पे टुमका लगावै तौ बुआ तुम्हार।
 जो मैं जनती रामचन्द लाला मुड़नों तुम्हार।

(स्रोत- श्रीमती सन्तोषी त्रिपाठी, ग्राम-खेड़ा सनाया, भोगनीपुर, कानपुर देहात)

इस संस्कार के बाद कर्णछेदन, जिसे कानपुर देहात में कनछेदन कहा जाता है। यह संस्कार जन्म से तीसरे, पाँचवें अर्थात् विषम वर्ष में सम्पादित किया जाता है। पुरोहित के मुहूर्त के अनुसार इसे भी किसी देव स्थल अथवा कुछ लोग इसे घर पर ही सम्पादित करते हैं। कर्णछेदन में सुनार अथवा नाई सोने

की बाली कान छेदन के बाद पहनाता है। इसमें उसे नेग निछावर भी बालक के सगे-संबंधीजन देते हैं। कर्णवेध संस्कार में गीतों का वर्ण्य विषय यही होता है कि कौन संबंधी क्या कार्य सम्पादित करता है। इसमें सोहरगीत एवं देवी गीत भी गाये जाते हैं। कर्णछेदन के बाद ब्राह्मण का 16 वर्ष में, क्षत्रिय 22 वर्ष में तथा वैश्य का 24 वर्ष के पूर्व ही यज्ञोपवीत संस्कार करने का विधान है। यह संस्कार भी अन्य की तरह अत्यन्त धूमधाम से मनाया जाता है। इस संस्कार में विवाह संस्कार की तरह ही अनेक कार्यों को सम्पादित किया जाता है। इसलिए कुछ लोग यज्ञोपवीत को आधा विवाह मानते हैं। यज्ञोपवीत में विवाह की तरह ही भात मांगना, धानगीत, मण्डप गाड़ना, तेल चढ़ाना, पितरों को निर्मात्रित करना, माई मैधरा आदि प्रथाओं को पालन किया जाता है। जिसका यज्ञोपवीत होता है, उसे 'बरुआ' कहा जाता है। जनेऊ धारण करने के बाद बरुआ को मुहूर्त के अनुसार पाँच या सात दिन तक रोज पाँच घरों से भिक्षाटन करना होता है। बरुआ के पीछे भिक्षाटन करते समय स्त्रियाँ मंगल गीत गाती हैं। जनेऊ गीतों में कुछ में बरुआ की वेशभूषा का भी उल्लेख मिलता है।

हाथ दुनइया कुश पइंती तौ बरुआ बिराम्हन रे।
 है कोउ नगरी मा पण्डित जनेऊ विचारै रे।
 तखत बैठन्ते बाबा उनके उइ हँसि बोले है रे।
 हम हन नगरी मा पण्डित जनेऊ विचारै रे।
 पहिले जनेऊ मूँज का दुसरे मृगछाला रे।
 तिसरो जनेऊ सूत का नाती मोरो पहिरै रे।

इस गीत में जनेऊ में किये जाने वाले विविध विधानों का भी वर्णन दिया गया है। पहला जनेऊ मूँज (एक विशेष प्रकार की घास जैसी) दूसरा जनेऊ हिरन की खाल से निर्मित तथा तीसरा जनेऊ सूत का पहनाया जाता है। इसमें बताया गया है कि जिसके हाथ में पत्ते की दुनइया (दोना) कुश की पइंती पहने है, वही बरुआ ब्राह्मण है। यज्ञोपवीत संस्कार के बाद व्यक्ति के गृहस्थ जीवन में प्रवेश के लिए विवाह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में वर-वधू का चुनाव करते समय वर्ण, कुल, योग्यता आदि बातों का ध्यान रखा जाता है। विवाह ही एक ऐसा संस्कार है, जो काफी समयान्तराल में सम्पन्न होता है। इस संस्कार में विभिन्न कार्यों का सम्पादन-बरिछा, पीरा चिट्टी, फलदान, भात मांगना, धान दरेती, मण्डप गाड़ना, पितृ निमन्त्रण, माई मैधरा,

तेल चढ़ाना, भात पहनाई, पुरइन पूरना, निकासी, कुआँ व्याहना, नकटौरी, द्वारचार, चढ़ाव, भांवेरे, पाँयपुजी, कन्यादान, कलेवा एवं विदा किया जाता है। और इन सभी विधानों में अलग-अलग गीत गाये जाते हैं, किन्तु कुछ समग्र रूप से विवाह गीत ऐसे भी हैं, तो कि कई वैवाहिक कार्यक्रम में गाये जाते हैं।

*दूल्हा बने है श्रीराम लखन सहबोला बने हैं।
सिर बन्ना के पगरी सोहे मौरा सम्हारे सहबोला,
राम दूल्हा बन के आये।
कान बन्ना कुण्डल सोहे मौरा सम्हारे सहबोला,
रामदूल्हा बन के आये है।*

(स्रोत- श्रीमती कांती केवट, ग्राम-खेड़ा सनाया, भोगनीपुर, कानपुर देहात)

विवाह के बाद कन्या का ससुराल से मायके जाना, चौथी चालना तथा मायके से ससुराल ले जाने के लिए जब उसका पति एवं उसके श्रेष्ठ संबंधी जीजा, फूफा आदि उसे लेने आते हैं, इसे गवना कहते हैं। गवना लेने में पुनः कुछ वैवाहिक लोकगीतों जैसे-कलेवा, विदा आदि का निर्वहन किया जाता है। कन्या को छह महीने बाद उसके ससुराल से गवना लेने आते हैं। इन गीतों में श्रृंगार रस वियोग श्रृंगार का वर्णन मिलता है-

*लाल चोंच के हरे-हरे सुवना उड़ि कजरी वन जाव।
जाइ कहेव मोरे बारे ससुर से जल्दी गवन लइ जाय।
जाइ कहेव मोरी बारी बहू से चार महीना गम खाय।
चार महीना तुम्हरे जर बर जामै, आई बयस कहाँ जाय।
लाल चोंच के*

(स्रोत- श्रीमती मालती पाण्डेय, ग्राम-खेड़ा सनाया, भोगनीपुर, कानपुर देहात)

इस गवना गीत में नवविवाहिता तोते द्वारा अपने गवना लेने का संदेश क्रमशः ससुर, जेठ, देवर, पति सबके पास भेजती है जिसमें उसके ससुराल से जवाब में चार महीने रुकने को कहा जाता है, किन्तु वह विरहणी कहती है कि मेरी युवावस्था चार महीने तक कहाँ रुकेगी, वह तो कम हो जायेगी।

‘मृत्यु एक विश्राम स्थल है’ व्यक्ति का गत्यात्मक शरीर गतिहीन हो जाता है। यह जीवन का अन्तिम संस्कार है। इस संस्कार के द्वारा मृत व्यक्ति का परलोक सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। जब रोगी की नाड़ी बन्द हो जाती है तो उसे गाय के गोबर से लिपी भूमि पर बिछौना के नीचे कुश रखकर लिटा दिया जाता है। इसे कुशासन देना कहा जाता है। घर से श्मशान की ओर मृत व्यक्ति ले जाते समय लोग यह कहते हुए चलते हैं-‘राम नाम सत्य है सत्य बोलो मुक्त है’। दाह क्रिया के नौवें दिन नौवार जिसमें परिवार के पुरुष सिर मुड़वाते हैं, ग्यारहवें दिन एकादश होता है, जब पहली बार मृत्यु से घर में तेल नमक मिर्च युक्त भोजन बनाया जाता है तथा तेरहवें दिन तेरहवीं मनाई जाती है। इसमें ब्राह्मणों तथा मान्यों को भोजन कराया जाता है।

अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि संस्कार गीत संस्कारों का मेरुदण्ड है। संस्कारों में वैदिक आचार अथवा शास्त्रोक्त आचारों की संख्या लोकाचारों की संख्या की अपेक्षा न्यून है। प्रत्येक संस्कार का व्यक्ति के जीवन में अपना महत्त्व है और इन संस्कारों में गाये जाने वाले गीतों का भी अपना महत्त्व है। इन गीतों में विभिन्न संस्कारों की क्रियाविधि, हर्ष-उल्लास आदि का वर्णन मिलता है। अतः संस्कार, संस्कार गीतों के बिना अधूरे हैं। संस्कार किसी व्यक्ति की भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति ही नहीं करते, बल्कि उसकी शुद्धि भी करते हैं।

उत्तर-पूर्व की बुनाई परम्परा

नेहा तिवारी

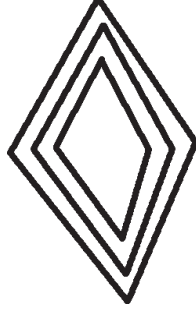
पूर्वोत्तर प्रान्तों के उत्सव और त्योहार भी उनके कपड़ों पर बने प्रतीकों की तरह वहाँ के लोगों और उनके जीवन के रंगीन पहलुओं को उजागर करते हैं। पूरे वर्ष लोग अपने तमाम सज-धज के साथ खुशियाँ मनाते हैं, जो कि उनके जीवन और आजीविका पर ही आधारित होते हैं। इन एक सौ छियाछठ कबीलों में कई समानताएँ भी हैं, जैसे सभी अपने घरों में कपड़ा स्वयं बनाते हैं। बाँस के बर्तन व वाद्य भी लगभग समान हैं। सभी घरों में बकरे, मुर्गे एवं सुअर पाले जाते हैं। अधिकांशतः सभी में विभिन्न पूजाओं के दौरान सुअर या बकरे की बलि दी जाती है। चावल की शराब, चावल एवं काली दाल मुख्य भोजन का हिस्सा है। हर प्रदेश पर्यटकों के लिए स्वर्ग है। सैकड़ों किस्म की वनस्पतियों और जीवों को संरक्षण देने वाले मनोरम वन, कबीलाई विविधता आपको बरबस ही अपनी संस्कृति के प्रति उत्सुक कर देती है।

एक सरसरी निगाह डालते हुए यदि इन सात प्रदेशों का औपचारिक परिचय देखा जाए तो यह समझिये कि इन्हें 'सेवन सिस्टर्स' के नाम से भी जाना जाता है। यह क्षेत्र शेष भारत भूमि से केवल एक संकरे भूमि क्षेत्र के माध्यम से जुड़ा है, जो बंगाल के जयंति, अलीपुर और कोच्चि बिहार का हिस्सा है। यह आंशिक पृथकता ही सम्भवतः इस क्षेत्र की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति और जीवन शैली का कारण है। ये सभी प्रान्त अभी तक अपनी कबीलाई संस्कृति को निभा रहे हैं।

इन सभी प्रदेशों में लम्बे समय से ही विभिन्न समुदायों-आस्थाओं एवं संस्कृतियों का सुंदर समागम रहा है। यह प्रान्त सम्मोहक

खूबसूरती और अद्भुत विविधता के लिए जाना जाता है। यहाँ दीर्घकाल से ही विभिन्न जनजातियाँ अपनी जुदा बोलियों, शैलियों और संस्कृतियों के साथ रहती हैं। इनमें से कुछ समूह तो सदियों पहले दक्षिण-पूर्वी एशिया से यहाँ आ बसे हैं, जो कि आश्चर्यजनक रूप से अपने पुरातन संस्कारों व संस्कृतियों को निभाते हुए भी आधुनिक शैली में रम चुके हैं। घने जंगलों, उच्छृंखल नदियों और सम्पूर्ण पर्वतमालाओं, घाटियों और मैदानों पर होने वाली बारिश और तूफानों की विशेषता लिए हुए इस प्रांत को अलौकिक या जादुई कहना गलत न होगा।

असम को पूर्वोत्तर प्रांत का प्रवेश द्वार कहा जा सकता है। असम नाम शायद बहुत पुराना नहीं है। यह 1228 ईस्वी पूर्व भारत आए बौद्ध ताई कबीले 'अहोम' द्वारा दिया गया है। असम शब्द सम्भवतः 'असमान' से व्युत्पन्न हुआ है, क्योंकि यह पश्चिम में बंगाल, पूर्व में नागालैण्ड, मणिपुर और म्यांमार एवं उत्तर में भूटान, अरुणाचल प्रदेश तथा दक्षिण में मेघालय, बांग्लादेश, त्रिपुरा और मिजोरम से घिरा हुआ है, जो पहाड़ी भूगोल वाले क्षेत्र हैं। साथ ही यह भीषण नदी ब्रह्मपुत्र (छियाग) से धन्य है, जो चावल व चाय के लिए स्वर्णिम कछारी मिट्टी साथ लाता है।



संस्कृति : कृषि को यदि हम उद्योग माने तो कहना गलत न होगा कि रेशम निकालना, कपास कातना, कपड़ा बुनना उनके रोजमर्रा जीवन का एक नियमित हिस्सा है। हर जनजाति में कपड़े की बुनाई को लेकर अपनी मान्यताएँ हैं। एक समानता है तो यह कि ऐतिहासिक रूप से यह केवल स्त्रियों की दिनचर्या का हिस्सा था। आहिस्ता-आहिस्ता यह काम पुरुष भी करने लगे। दूसरा-सभी परिवार केवल खुद के बनाये कपड़े ही पहना करते थे। अपने ताने, करघे, सूत भी वे स्वयं ही बनाते थे। सभी जनजातियों में मुख्य त्योहार 'बीहू' या 'विश्वकर्मा जयंती' पर वे अपने करघों की पूजा किया करते हैं, कुछ समान त्योहार हैं। फिर भी सभी की वेशभूषाएँ, बोलियाँ, नृत्य, लोकगीत, मान्यताएँ, कपड़ों पर बनाये जाने वाले प्रतीक अलग-अलग हैं। एक तरफ जहाँ सभी जनजातियों का मुखिया ही उनके लिए कानून होता है, तो वहीं दूसरी तरफ शादी- ब्याह को लेकर उनके अपने रिवाज हैं।

माजुली, दुनिया का सबसे बड़ा द्वीप जो 1080 किलोमीटर तक फैला है, जोरहट जिले में आता है। यह असम का सबसे बड़ा जनजातीय क्षेत्र है, जहाँ मिशिंग लोग रहते हैं। इन्हें मिरी भी कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि यह मध्य एशिया से आए हैं, वहीं कुछ मिशिंग लोगों ने खुद को छियाँग नदी के किनारे बसे छियाँग गाँव के मूल का होने के प्रमाण दिये हैं। इनके कुछ परिवार अब भी वहाँ रह रहे हैं। ये सम्भवतः बेहतर कृषि भूमि की तलाश में नीचे उतरकर असम के समतल क्षेत्र में आ बसे। वे अब भी बाँस की बल्लियों पर बने अपने घरों में रहते हैं, जिन्हें छाँग या उकुम कहते हैं। इनकी तस्वीरें अपने कपड़ों पर भी बुनते हैं। उकुम के नीचे का हिस्सा अपने जानवर रखने करघा व अन्य आवश्यक सामानों को रखने के काम आता है। बाढ़ आने पर सारा सामान सीढ़ियों से ऊपर ले जाया जाता है और पानी नीचे से निकलता रहता है। वास्तव में मकानों की यह विशेषता उन्हें जंगली जानवरों से भी बचाती है। 1962 से पूर्व यह बाढ़ केवल बारिश के मौसम में ब्रह्मपुत्र के उबाल का स्वरूप होती थी। लेकिन 1962 से चीन में बने बाँध के फलस्वरूप अब यहाँ साल में कभी भी जब चीन द्वारा बाँध का पानी छोड़ा जाता है, बाढ़ आ जाती है और इस तरह माजुली ब्रह्मपुत्र पर बना एक ऐसा द्वीप है, जहाँ के लोगों ने खुद को जल्द ही वातावरण के अनुरूप ढालते हुए, अपनी पारम्परिक कला एवं संस्कृति के माध्यम से सम्पन्न बनाया है। बाढ़ आने पर स्कूल बंद हो जाते हैं। दफ्तर, व्यवसाय ऊपर की मंजिलों में ले जाये जाते हैं। आवागमन का साधन फेरी (बड़ी नावें) या नावें होती हैं। घरों के नीचे बहते पानी से बच्चे मछलियाँ व साँप पकड़कर खाते हैं। जीवन जलमग्न होने के बाद भी उत्साह में कोई कमी नहीं होती है।

मुख्य काम खेती होने के बाद भी उन्होंने रेशम और सूत के कपड़े बनाने की कला को अंतरराष्ट्रीय व्यवसाय का रूप दिया। मशीनों से कपड़ा बुनाई को अपनाने के बावजूद भी उन्होंने हाथों से कपड़ा बनाने की कला को छोड़ा नहीं है। दस में से तकरीबन नौ घरों में आज भी मिशिंग लोग रेशम का कीड़ा ऐड़ा (पलू) तापुँग (पेड़) पर पाल कर पुराने तरीकों से धागा (तूप) बनाते हैं। पुरुष कीड़ों को उबाल कर रेशम अलग करते हैं। उसे

पेड़ की छाल से बने लाल रंग या पत्तों से निकले हरे रंग में तीन दिनों तक भिगोकर रंगते हैं। वैसे सफेद और काला उनके पारम्परिक रंग हैं। कपास से भी सूत निकालकर स्त्रियाँ घर पर ही कपड़े बनाती हैं।

घर का हर सदस्य बचपन से ही बाँस काटकर करघा बनाना जानता है। छोटे या बड़े सभी तरह के करघे लोग घरों पर ही स्वयं बना लेते हैं और होश सँभालते ही तीन-चार वर्ष की उम्र से ही घर पर कपड़ा बनाना सीख लेते हैं। मिशिंग कपड़ा पूर्वोत्तर में बनने वाले सभी कपड़ों में सबसे अच्छा और खूबसूरत होता है। उनके कपड़ों पर दोनी, पलू, उकुम, गाँववुरा, दो तलवारें और ढाल के प्रतीक पारम्परिक हैं। मिशिंग झण्डे पर भी यह तलवार और ढाल बनी होती है। उनके पारम्परिक परिधानों में स्त्रियाँ ऊनी रिबिगासाँग पहनती हैं, जिस पर लाल, सफेद, काली, हरी, नीली धारियाँ बनी होती हैं। वे सिर पर केरो बाँधती हैं। पुरुष धोती, गोमोसा (गमछा) व जैकेट पहनते हैं। स्त्रियाँ मासिक धर्म के पाँच दिनों में करघे को हाथ नहीं लगातीं। कपड़ा बनाते हुए स्त्रियाँ लोकगीत गाती हैं। अब उनके वस्त्रों पर आधुनिक प्रतीक जैसे लड़के-लड़कियाँ, ताजमहल, कम्प्यूटर आदि भी देखने को मिलते हैं।

बच्चे के जन्म के दूसरे दिन उसे इस संसार की जो पहली चीज चखाई जाती है, वह है 'अपाँग' (चावल की शराब) की दो बूँदें। अपाँग हर घर में स्त्रियाँ स्वयं बनाती हैं और यह परम्परा उनकी बुनकर परम्परा जितनी ही पुरानी है। अपाँग बनाने के लिए चावल को उबालकर एक बड़े बर्तन में फैला दिया जाता है, फिर चावल की भूसी (अम्प) को जलाकर उसकी राख (मेरे) चावल पर फैलाई जाती है। सूख जाने पर रिन्जी (जामुन के पत्ते) रोक्जिंक (देवदार के पत्तों) एवं कोई इस किस्म की पत्तियों के साथ मिलाकर पीसा जाता है, फिर उसके गोले (एपाँप) बनाकर दो-तीन दिन के लिए एक मिट्टी के बर्तन में केले का पत्ता बिछाकर उसमें एपाँप रखकर दूसरे पत्ते से ढाँककर चूल्हे से कुछ ऊपर लगी लोहे की जाली पर रख दिया जाता है। गार्मियों में चार-पाँच दिन के लिए और सर्दियों में दो-तीन हफ्तों के लिए। इस प्रक्रिया से निकले पानी को छानकर पानी मिलाकर प्रयोग किया जाता है। यह पानी देखने में काले रंग का होता है और इसे

बोरो अपाँग कहते हैं। यदि अम्पू न डाला जाये तो यह सफेद रंग का बनता है।

इस प्रक्रिया के दौरान जो कीड़े बनते हैं, उन्हें भी खा लिया जाता है। वो कहते हैं- कीड़े को मसलने पर निकलने वाली बूँदें भी इतना नशा पैदा करती हैं कि इंसान कई घण्टों तक झूमता रहता है। अपाँग का स्वाद कुछ मीठा होता है।

सामाजिक रीतियाँ - मिशिंग लोगों में दो गोत्र हैं- दोले और पेगू। इनमें विवाह समान गोत्र में नहीं किया जा सकता।

यदि पुरानी व्यवस्था देखें, तो विवाह बड़े तय करते थे या कभी-कभी अगर कोई लड़का किसी लड़की को पसंद कर लेता और वह ब्याह के लिए राजी न होती, तब लड़का अपने पाँछ-छः दोस्तों के साथ जाकर लड़की को उठा लाता। लड़की के परिवार से अगर रास्ते में ही कोई अपने धनुष-बाण लेकर उसे छुड़वा सका तो ठीक, अन्यथा एक बार लड़की-लड़के के घर पहुँच गयी तो उसे विवाह करना ही होता, लौटने पर भी उसे घरवाले स्वीकार नहीं कर सकते थे।



स्वेच्छा से ब्याह तय होने पर लड़का विवाह से एक सप्ताह पहले पोले बाँस के टुकड़े के अंदर सोना और पानी डालकर ले जाकर लड़की के हाथ में दो पान के पत्तों के साथ दे देता है। साथ ही वह इच्छित भेंट की माँग भी कर सकता है। आमतौर पर यह माँगें ढेर सारी अपाँग व दो-तीन सुअर की ही होती हैं। विवाह में जेवर व खाने-पीने का सामान लड़के के घर से आता है।

आलिआय लिगांग : यह मिशिंग समुदाय का सबसे बड़ा त्योहार है। इसमें सभी लोग गाँववुरा के साथ मिलकर उसके घर के सामने नाचते-गाते हैं। स्त्रियाँ पूरी सज-धज के साथ मोती व दोगना (हाथी या सुअर के दाँत) से बने गहने पहनती हैं और पुरुष लुपी (मंजीरे) दुम-दुम (ढोल), बंशी लेकर तथा गाँववुरा तलवार लेकर नाचता है। यह नृत्य फसल कटने की खुशी में किया जाता है। नाच-गान के बाद अपाँग और सुअर की दावत करते हैं।

दुबर पूजा : यह मुख्यतः सूरज की पूजा है। घर-परिवार के सभी सदस्य भोर में ही उठकर बाँसों से घर की हर एक

दीवार को पीटते हैं। मानना है कि इससे सभी भूत-प्रेत, बीमारी आदि बाधाएँ दूर भाग जाती हैं। फिर बखत (पुजारी) आता है, जिसे चावल, नमक एवं छिल्ली (मिर्च) दान में दिया जाता है। वह हर घर के बगीचे से जो कुछ भी चाहे मुर्गा, सुअर, सब्जी उठाकर अपने साथ ले जा सकता है।

सारा सामान लेकर बखत नदी के किनारे जाकर जमीन साफ करके दोनी पोलोन (उगते हुए सूरज) की पूजा करता है। पूरे दान में से हर चीज का एक अंश निकालकर एक केले के पत्ते में रखता है। फिर लम्बे बाँस के एक सिरे को फाड़कर फूल सामान बना उस पत्तल को रखकर जमीन में गाड़ देता है, ऊपरी सिरे पर रखा भोजन सूर्य को समर्पित होता है। उसके बाद पूरे गाँववासी शेष बचे भोजन को उबालकर उसमें ताजिक व अम्बे की पत्तियाँ डालकर (जो कि चिकनाई का काम करती हैं) पका कर खाते हैं। इस भोज में केवल पुरुष ही शामिल होते हैं, स्त्रियाँ नहीं और वहाँ पका भोजन घर नहीं ले जाया जा सकता है।

तालकुई : यह पूजा स्त्रियाँ अपने वैवाहिक जीवन की समस्याएँ खत्म करने के लिए करती हैं। केवल परिवार के लड़के शामिल हो सकते हैं। सभी लोग अनाज के कोठार में जाकर खाना पका पहले आबूतानी को अपाँग के साथ देने के बाद मिलकर रतजगा कर लोकगीत गाती हैं, फिर भोजन कर सुबह पूजा समाप्त करती हैं।

खास बात यह है कि 'दबूर पूजा' के दिन व 'हथलगा' के सात दिन लोग करघे को हाथ नहीं लगाते। दबूर पूजा के दौरान तो गाड़ियाँ और बाजार एवं लोगों का किसी और के घर आना-जाना सब कुछ बंद हो जाता है। वहीं हथलगा के दिन देवी कामाख्या के सात दिन कहलाते हैं, इस समय जबकि न ही करघे पर काम किया जाता है, न ही नया सामान खरीदा जाता है और न ही कोई शुभ काम किया जाता है।

माजुली कृषि-व्यवसाय, शिक्षा-तकनीक, रोजगार आदि के क्षेत्रों में संतोषजनक रूप से सम्पन्न एवं पारम्परिक दृष्टि से

समृद्ध क्षेत्र है, दुनिया में यह चाय राजधानी के नाम से भी जाना जाता है।

कार्बी आँगलॉग - कार्बी असम के सबसे पुराने रहवासियों में से हैं और इन्हें मिक्किर लोग भी कहते हैं। हालाँकि यह भी दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन से आए हैं। यँ तो भौगोलिक दृष्टि से यह मेघालय और नागालैण्ड की सीमा के निकट है, पर इनका रहन-सहन असमी है। उनके घर, उनकी खेती, समाज बोडो लोगों से मिलता-जुलता है। मुखिया (बँग्याई) सभी महत्वपूर्ण निर्णय लेता है। कार्बी वेशभूषा व बोली अलग तरह की है, साथ ही इनमें भी कई विभिन्न जनजातियाँ मौजूद हैं, जैसे रेंगमा, नांगा आदि।

कार्बी स्त्रियाँ कमर पर पीनी, वाँकक (कमरबंद), ब्लाउज के ऊपर पेकक पहनती हैं, लेकिन विधवाएँ ब्लाउज की जगह जिसाकाचिप्या पहनती हैं। पुरुष कमर पर सेलेंग, अड़ाई गाचोल पहनते हैं एवं गले में पोलो

डालते हैं। यहाँ भी हर घर में थेरॉंग (करघे) मौजूद होते हैं। यह इस तरह बने होते हैं कि यदि लड़कियाँ किसी दूसरे के घर जा रही होती हैं तो साथ लेते जाती हैं, वहीं बैठकर कपड़ा बनाने लगती हैं। केवल कार्बी लड़कियाँ ही कपड़े बनाने का काम करती हैं और बहुत छोटी-सी उम्र से यह कला सीखने लगती हैं। यह कला वे अपनी माँ से सीखती हैं और पहली बार कपड़ा बुनने पर पहले सेआर डीहू देवी की पूजा कर आशीर्वाद लेती हैं, जो उन्हें अच्छा कपड़ा बनाने में मदद करती हैं। आधामसार (विवाह) के वक्त भी लड़की अपने बनाये कपड़े ही सास-ससुर के लिए ले जाती है। अपीसो (दुल्हन) और अपीनान (दूल्हा), दोनों ही केवल सफेद कपड़े पहनकर ही विवाह करते हैं। अपीसो जो कपड़े पहनती है, वह लड़के के घर से आते हैं। लड़की गले में 'लेग्धोन' (पैसों से बनी माला) पहनती है।

कार्बी लोगों में विवाह बड़े तय करते हैं, उसके बाद लड़का-लड़की के घर पहले दो बोतल होर्पो अपाँग केले के पत्ते पर रखकर भेंट स्वरूप ले जाता है और दूसरी बार तीन बोतलें अपाँग की लेकर जाता है। यह बोतलें बोंगचिंग (मिट्टी की) और अरा (काँच की) होती हैं। लड़की उसे अपाँग चावल व सुअर खिलाती है। कार्बी लोगों की मुख्य पूजाएँ हैं- रोंगक्यार, जुजुँग एवं सोमाँगकान। इन सभी पूजाओं में पान-सुपारी चढ़ाकर देउरी (पुजारी) बकरे या मुर्गे की बलि देता है। फिर सभी बकरा, चावल, सहादू (मीठा पीठा) व नोगलाँग (गुड़) खाते हैं।

पहले लोग मृत्यु तिथि पर काले कपड़े पहनते थे, जिस पर एक वृक्ष का प्रतीक बना होता था, जिस पर सात चिड़ियाँ बैठी होती थीं। यह काला रंग वे 'तम्बीयू' की पत्तियाँ उबाल कर बनाया करते थे।

युवक और युवतियाँ उत्सव करते हुए गीत गाते हैं, जिसे 'जिली आलोन' कहते हैं। इसे उत्सव का नाम 'चमाँ कान' है। इसमें लड़कियाँ ऊपर लाल, सफेद, काले रंग की पिसरपी पहनती हैं, सफेद ब्लाउज व कमर में काली विनी पहनती हैं। लड़कियाँ बचपन से ही कपड़ा बुनने लगती हैं, लेकिन करघे के लिए बाँस काटने का काम लड़के करते हैं। मंगलवार को बाँस काटना वर्जित है, अन्यथा शुभ नहीं होता। कार्बी कच्चे बाँस का गूदा उबाल कर खाते हैं, जो बहुत स्वादिष्ट व पौष्टिक होता है।

माजुली देउरी - देउरी लोगों के मकान मिशिंग के उकुम से अधिक ऊँचे होते हैं। यह जंगल की पूजा करते हैं। पुजारी को मिडी, धागे को डिगी, रेशम के कीड़े को मूगादिकी व करघे को हल कहते हैं। स्त्रियाँ केवल सफेद कपड़ा पहनती हैं, जिसे कंधे के नीचे से बाँधा जाता है एवं सिर पर भी एक लाल किनारी वाला सफेद कपड़ा बाँधती हैं। कपड़े बनाने का काम केवल स्त्रियाँ करती हैं। नये करघे पर सबसे पहले गमोसा बनाया जाता है, जो पिता-माँ, भाई-भाभी या जीजा को भेंट किया जाता है। बीहू की पूजा पर भगवान शिव (इंदी मामा) के लिए सादा सफेद कपड़ा (इकू) बनाकर समर्पित किया जाता है। काती (कार्तिक) मास में हल पूजा की जाती है, इस दिन कोई करघे पर काम नहीं करता।

देउरी लोग असम के सभी आदिवासियों में सबसे कम

संख्या में हैं। इसकी एक वजह है इनका अपने संस्कारों व रिवाजों को लेकर कट्टर होना। कबीले के बाहर विवाह वर्जित होने की वजह से इनके नाक-नक्श आज भी आश्चर्यजनक रूप से बिलकुल नहीं बदले हैं। ये लोग मजबूत इरादों वाले बेहद धार्मिक लोग हैं और आज भी इनकी कृषि पद्धति है- स्लैश एण्ड बर्न (काटना और जलाना)। यह लोग अपने घरों में ही बकरी, सुअर और बतख पालते हैं। देउरी लोगों में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आज भी पूरा परिवार एक छत के नीचे रहता है। सदस्यों की संख्या के साथ ही बाँस एवं साल की लकड़ी से बने घर का आकार भी बढ़ता रहता है। कई घरों में तो सदस्य संख्या सौ के भी पार निकल जाती है। देउरी सजातीय विवाह करते हैं और लड़की पसंद आने पर लड़के को उसके माता-पिता को धन, अनाज, चावल की शराब एवं जानवर भेंट करना होता है। यदि लड़के के पास धन नहीं है तो उसे लड़की के घर निश्चित समय तक काम करना होता है। हालाँकि परिवार पितृसत्तात्मक ही होते हैं। उपनाम पिता का लगाने के साथ ही सम्पत्ति में हिस्सेदारी भी केवल बेटों को ही मिलती है। देउरी लोग अति न्यायप्रिय होते हैं।

रास्केबाँद देउरी लोगों की मुख्य पूजा है, जिसमें आसिया पेड़ को पत्तों से सजाया जाता है। दोपहर बारह बजे तक पूरा गाँव एकत्रित होता है। मिडी तेनी बकरों की बलि देता है। हर बलि के बाद वह बकरे का रक्तपान करता है, फिर अचेत हो जाता है। लोग चावल एवं तुलसी जल छिड़क कर मिडी को होश में लाते हैं। पूजा में पूरे तैंतीस देवताओं के नाम लेना आवश्यक होता है। यदि एक भी गलती हुई तो कहा जाता है कि उसे उल्टी-दस्त की बीमारी हो जायेगी, वह मर भी सकता है। पूजा के बाद सभी बकरा पका कर खाते हैं।

छाबू पूजा में परिवार के केवल दो पुरुष मिडी के साथ छू (सुअर) की पूजा करते हैं। मिडी का चयन केवल ब्राह्मण परिवारों से ही होता है। जो अच्छे से बलि दे सकता है, मतलब एक ही वार में तलवार से बकरे का सिर काट सकता हो, वही मिडी बनता है।

देउरी स्त्रियों के पास हर मौके के लिए लोकगीत होते हैं। वे लोरी गाती हैं, कपड़ा बुनते हुए, खाना बनाते वक्त भी गीत गाती हैं।

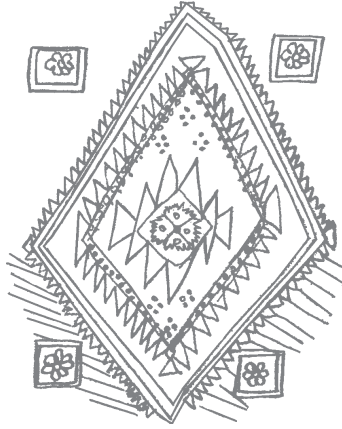
हाजोंग (गोलपरा) - हाजोंग के लोग धमार जनजाति के कहलाते हैं। यह वास्तव में पुराने पाकिस्तान (अब बांग्लादेश) के ओमोसरा या उसके आसपास के गाँवों से असम में लक्ष्मीपुर के पास आकर बसे हैं। इन्हें सात बीघा जमीन प्रति परिवार के हिसाब से बोडोलैंड के पास बीस-पच्चीस गाँव दिये गये हैं। पहले इनका मुख्य पेशा कृषि हुआ करता था, अब भी जब उनके पास अपने खेत नहीं, तब वे बोडो के खेतों पर जाकर काम करते हैं और फुर्सत के महीनों में अपने घर आकर कपड़ा बनाते हैं। पीछे से घर में रह गये बुजुर्ग, बच्चे, लड़कियाँ सभी कपड़ा बनाते थे। पहले उनके पास छोटा-सा ताना हुआ करता था और वे केवल सूती कपड़ा बनाते थे। अब आधुनिक करघे पर बाजार से लाए हुए तात से कपड़े बनाए जाते हैं। छोटे बच्चे खेलते हुए नन्हें तानों पर छोटे-छोटे कपड़े बनाकर सावन मास के आखिरी दिन मिट्टी के गुड्डे-गुड्डिया बनाकर उन्हें पहनाते हैं और ओइना सवा खेलते हुए गाने गाते हैं।

हर गाँव का मुखिया गाँववुरा कहलाता है, जो सादा सफेद रंग का धोती-कुर्ता पहनता है। एक ब्राह्मण परिवार होता है, जो सभी घरों में पूजा करवाता है। नापित बाल काटने से लेकर छोटी-छोटी रस्में करवाने का काम करता है। साथ ही एक होता है हुरी ठाकुर गोसाँई। गोसाँई का सम्मान गाँववुरा से भी अधिक होता है। यह हर लड़के और लड़की के कान में मंत्र देकर उन्हें जनेऊ पहनाता है। हर परिवार का एक खानदानी गोसाँई परिवार होता है। गोसाँई साल में एक बार सबके घरों में जाता है, जहाँ उसके चरण धोकर पूजा की जाती है और उसे भेंटस्वरूप सुअर, बकरा, मुर्गा, बतख, अनाज, कपड़ा, धन आदि दिया जाता है, जिससे परिवार की सभी बाधाएँ टल जाती हैं।

गाँव में मुस्लिम टोला अलग होता है और ये कपड़ा बुनने का काम नहीं करते हैं। हिन्दू प्राचीन समय से ही मोनसा (मंसा) देवी की पूजा करते आ रहे हैं, जिसे 'बोर्तो' पूजा कहते हैं। बच्चे-बड़े सभी सुबह से ही व्रत रखकर दोपहर में नहा-धोकर गीले कपड़ों में पूजा करते हैं। घर का मालिक हास (बतख के अण्डे) की बलि देते हैं और सभी लोग सफेद कपड़े पहनते हैं।

विवाह में भी धमार दूल्हा-दुल्हन का हर वस्त्र सफेद होता है, जिसमें लाल किनारी बुनी जाती है।

'चोरखोला पोर्व' दीवाली से शुरू होता है और सभी लोग नाच-गाकर पूरे गाँव से चन्दा एकत्र करते हैं, फिर सभी मंदिर में जाकर वास्तु पूजा करते हैं। खैर व बाँस के पेड़ों की मदद से तीन मंदिर बनाये जाते हैं। पहला सबसे बड़ा जिसमें मिट्टी के हाथी-घोड़े रखे जाते हैं, दूसरा मध्यम आकार का जिसमें महादेव जी का मण्डप बनता है और तीसरा सबसे छोटा जिसकी छत के पिछले कोने में बाँस की रस्सियाँ लगाकर पास लगे पेड़ से बाँधी जाती हैं, जो मंदिर में विराजी लक्ष्मी के वाहन 'फैसा' (उल्लू) का द्योतक होती हैं।



यह पूजा वर्ष में एक बार आवश्यक होती है। इसे करने से सभी परिवारों के सारे कष्ट दूर होते हैं। पूजा में सभी तरह के फल, सब्जियाँ, मुर्गे, बतख, अण्डे, चावल आदि चढ़ाये जाते हैं और महादेव के मंदिर में भंग भी चढ़ाई जाती है। बलि के बाद पूरे गाँव के लोग नाचते-गाते हैं और एकत्रित किया सारा भोजन पकाकर वहीं खाते हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण पूजा जो धमार स्त्रियाँ करती हैं, वह है काली पूजा। जब किसी के घर संतान कामना पूरी होती है, तब वह दम्पति अपने घर में भगवान कार्तिक की पूजा रख रतजगा में भजन एवं नृत्य का आयोजन करता है। इस पूजा के दौरान संतान की इच्छा रखने वाला जोड़ा व्रत रखकर पूरी श्रद्धा के साथ पूजा में शामिल होता है। इच्छित स्त्री के सिर पर जलता दीपक रखकर सभी स्त्रियाँ गाना गाती हैं। इस बीच दीपक पर रखी बाती यदि गोद में गिर गई तो जल्द उस जोड़े की संतान कामना पूर्ण होती है। यह जोड़ा कामना पूर्ति पर काती पूजा करने का संकल्प लेता है। सभी मिलकर मूँग दाल की खिचड़ी बनाकर प्रसाद रूप में चढ़ाते हैं और सुबह पूजा खत्म हाने पर प्रसाद खा घर को जाते हैं।

भाद्रपद की आखिरी तिथि को गाँव के लोग 'विश्वकर्मा पूजा' करते हैं और उस दिन करघे पर कोई काम नहीं किया जाता है। नये करघे को यदि कोई कुत्ता या इंसान नाक देता है

(ऊपर से निकल जाता है) तो उस पर काम नहीं किया जाता। ताना बनाने का काम स्त्री-पुरुष कोई भी कर सकता है। धमार लोग अपने सभी वाद्य स्वयं बनाते हैं।

बोरो (गोलपरा): बोरो सबसे पुराने असमी कबीलों में से एक है। यह आसाम की कुल 5.3 प्रतिशत आबादी बनाते और इनकी भाषा भी तिब्बतो-बर्मन है। चावल, चाय, सुअर-मुर्गी पालन, साथ ही स्त्रियों द्वारा बुनाई मुख्य व्यवसाय होने से हर घर में पुरुष कृषि एवं स्त्रियाँ बुनाई का काम करती हैं। घर पर ही रेशम निकालना और उसके खुबसूरत कपड़े बनाना लड़कियाँ दो-तीन वर्ष की उम्र से ही अपनी माँ के साथ कपड़े शुरू कर देती हैं। बोरो प्राचीन समय में केवल अपने पितरों की ही पूजा किया करते थे, लेकिन बाद में उन्होंने बाथू या हिन्दू देवताओं की पूजा आरम्भ की। 'बा' का अर्थ है 'पाँच' और 'थू' अर्थात् 'गहरा'। बोरो लोगों में पाँच का बहुत महत्त्व है। वे देवनागरी लिपि अपना चुके हैं, लेकिन कुछ विद्वानों का कहना है, वे देओधाई लिपि में अपना साहित्य लिखा करते थे।

बोरो आज भी अपने संस्कारों, रीति-रिवाजों को पूरी शिद्दत से मानते हैं। स्त्रियाँ फाइली और दोकोना पहनती हैं। दोकोना लपेटते समय कमर में जो हिस्सा आता है, उसे पोइसाली कहते हैं और बहुत छोटा-सा कोना जो ऊपर निकलता है, वह खोलोन्द्रा कहलाता है। पुरुष आरोनाई पहनते हैं और जैकेट के ऊपर गोमोसा डालते हैं। हर घर में हिसाँग होता है और हर उम्र की लड़कियाँ कपड़ा बनाती हैं। अब कुछ पुरुष भी इस कला में माहिर हो रहे हैं।

कपड़े से जुड़ी बोरो लोगों में कई मान्यताएँ हैं और इनकी पूजाएँ भी बहुत विस्तृत होती हैं। साल दोंगखाँग (वृक्ष) और बाँस से बने इनके करघे पर जब पहला कपड़ा बनाता है, तो उसे हमेशा अपने पास रखा जाता है। पहले कपड़े से जुड़े उनके कई विश्वास हैं, जैसे- कपड़े को दूह (कपड़ों को रखने के लिए बना मिट्टी का विशाल कलश) या आजकल बक्से में रखने से उसमें कभी भी कपड़े खत्म नहीं होते। यदि यह कपड़ा आपके साथ है और रात में आपको मणिधर साँप दिखे और आप उस पर यह कपड़ा डाल दें, तो वह मणि आपकी हो जाती है। यदि आप मिलनरत साँप के जोड़े को देखते हैं और उन पर यह कपड़ा डाल कोई इच्छा करते हैं, तो वह जरूर पूरी होती है।

पूजा के लिए बनाये जाने वाले कपड़े को बनाने के लिए कठिन व्रत करना होता है। यह लाल और हल (पीला) कपड़ा विशेष प्रतीक के साथ केवल कुँवारी लड़की ही बना सकती है। इस कपड़े के लिए आओसार पेड़ की छाल या फूल लेने एक कुँवारा लड़का सुबह नहा-धोकर आता है और घर लौटने पर लड़की उसका पानी उतारती है। इसी तरह पीला रंग पाँच दिन हंथल दोंगखाँग पेड़ की छाल से लाया जाता है। रेशम इंदी (रेशमी कीड़ा) से एक रात में ही निकालना होता है। इन छालों को पानी में भिगोकर रखते हैं, फिर उबालकर रंग निकालते हैं। कपास या रेशम को इस रंग में दो दिनों तक भिगोकर रखा जाता है। प्राचीन समय में लड़की को इस रंगे हुए रेशम या कपास का एक ही रात में पूरा धागा निकालना होता था। आजकल धागा बाजार से लाने की इजाजत है। इस पूरी प्रक्रिया के दौरान लड़की को अकेले घर के पूरब तरफ वाले भाग में रहना होता है, वह अपना खाना स्वयं बनाती है, अपने काम स्वयं करती है, किसी और के साथ बैठ नहीं सकती, न ही कहीं बाहर आ-जा सकती है।

बोरो लोगों के घर में एक बहुत बड़ा आँगन होता है, जिसे वे स्तला कहते हैं, और जिसके चारों ओर एक-एक भाग बना होता है। स्तला के पूर्वी हिस्से में बाथू का पेड़ पूरी श्रद्धा और नियमपूर्वक लगाया जाता है। बोरो जीवन के हर खुशी, दुःख, बीमारी, व्यवसाय में बाथू पेड़ का बहुत महत्त्व है। किसी भी नये घर में प्रवेश के समय बाथू पेड़ की कलम लगाना एक बड़ी पूजा-उत्सव की तरह होता है।

बाथू पूजा - सुबह से ही परिवार के लोग उस जगह जाते हैं, जहाँ से उन्हें कलम लानी होती है। वे सभी पूजा करके उस वृक्ष में वायु, सूर्य और ब्रह्मा के प्रकट होने की प्रार्थना करते हैं। फिर उस लड़की की प्रशंसा करते हैं, जिसके घर में कलम लगाना है। पुजारी एक ही वार में श्रद्धापूर्वक कलम काटता है और केले के पत्ते पर रख उसे एक सुंदर लम्बे बालों वाली लड़की के सिर पर रखता है। फिर सभी देवता की कृपा के लिए 'मुदाय फुजिनाए' नृत्य करते, खाम (ढोल), सीफुँग (बाँसुरी), जोथा (मंजीरे) एवं शेरचा (एकतारा) बजाते हुए नये घर को पहुँचते हैं। देवरी (पुजारी) या घर का मालिक तुलसी वाला पानी लेकर, जंगल की मिट्टी स्तला में बने गड्डे में डालता है और कलम लगाता है, फिर सभी लोग एक-एक कर उसमें मिट्टी

डालते हैं, सात परिक्रमा करते हैं, उसके बाद सभी बाथू के चारों ओर नाचते-गाते हैं और जूमाई (चावल की शराब) पीते हैं।

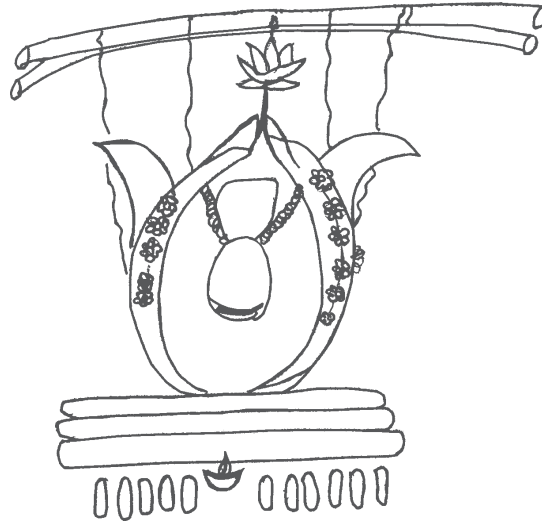
बोरो लोगों में देवरी के चयन की रस्म भी बड़ी दिलचस्प होती है। जनवरी-फरवरी के बीच होने वाली बड़ी पूजा बोरो-मानी-आए (नागदेवी माँ) के दिन बड़े नृत्य और भोज का आयोजन किया जाता है। खाम की ध्वनि गूँजते ही गाँव में जितनी तुला राशि की कन्याएँ होती हैं (जिन्हें ताबीज नहीं पहनाया गया हो) वे खुले बाल और लाल वस्त्र पहने नृत्य करते हुए आती हैं और गोल घेरे में बैठे हुए पुरुषों के बीच नृत्य करने लगती हैं। उनमें से एक जिस पुरुष के सामने झुककर अपने बाल जमीन पर रख देती है, वही देउरी चुना जाता है।

वैसे देउरी चयन की एक और विधि भी है। एक टोकरी में दो पान के पत्ते, चावल और दो सुपारी रखकर नये कपड़े से ढाँक दिया जाता है और फिर साफ सुथरी लिपि-पुती जगह पर घेरा बनाकर बैठे लोगों के बीच संगीत के साथ उसी टोकरी को एक दूसरे के पास आगे बढ़ाया जाता है। यह टोकरी जिसकी गोद में जाकर गिर जाती है, वही देउरी बनता है।

इन दोनों ही प्रक्रियाओं के बाद भैंसे की बलि नये देउरी द्वारा दी जाती है और बलि से निकला रक्त केले के पत्ते से बने दोनों में भरकर उन कन्याओं को पीने के लिए दिया जाता है, वे देवी का रूप मानी जाती हैं। कभी-कभी भैंसे की जगह काले भेड़, कबूतर (पारो) या सुअर की बलि भी दी जाती है। इस पूरी प्रक्रिया के बलि के प्रसाद को पत्तियों के साथ उबालकर, चावल व जूमाई के साथ खाया जाता है।

सभी बोरो पूजाओं में केवल कुँवारी तुला कन्या ही सम्मिलित हो सकती है। विवाह के बाद इन पूजा-कर्मों को करना वर्जित है। महत्त्वपूर्ण बोरों त्योहारों में हैं- जनवरी माह में मनाया जाने वाला बोइसागो और जून में लाँघमरा।

लाँघमरा त्योहार में प्रकृति की पूजा की जाती है। जंगल के बीच कोई एक बीघा के करीब खुली जगह में स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर यह पूजा करते हैं। पूजा एक पवित्र पत्थर की-की जाती है। इस पूजा में लापता मिल जाते हैं या किसी का कोई कानूनी मामला चल रहा हो, तो मन्नत करने पर जीत हासिल होती है। यदि कोई इस पत्थर को चुराता है तो सभी ग्रामवासी मिलकर उसे शाप देने की प्रार्थना करते हैं। यदि निश्चित समय में पत्थर वापस नहीं आता है, तो चोर की मृत्यु हो जाती है। फिर सभी लोग देउरी के साथ जाकर पहाड़ पर पूजा करके नया पत्थर लाकर वहाँ स्थापित करते हैं।



जनवरी में मनाया जाने वाला बोइसागो पूरे गाँव के लिए विवाह, सामूहिक भोज और मस्ती का माहौल लेकर आता है। माघो में तय किये हुए विवाह बोइसागो में सम्पन्न होते हैं। जंगल में बने पवित्र मैदान के बीच में तीन केले के छिले हुए तने नीचे रखे जाते हैं, उस पर और अन्य तनों को नाव के आकार में लगाया जाता है। बीच में ऊपर एक बाँस लगाकर उस पर केले के तने को कमल के आकार में काटकर उस

पर कपास का सूत सरसों के तेल में भिगाकर लगाया जाता है। इस पूरे आकार को बाँस की कीलों, बाँस की रस्सियों एवं दो बड़े लम्बे बाँसों का सहारा लिया जाता है। नाव को दींगा कहते हैं और इसके बीच में खिड़की-सा आकार बन जाता है। पूरे दींगा को केवल आउसार व खोनाली के फूलों से ही सजाया जाता है। इसके बाद सामने लिपे हुए स्थान पर आटे से तेरह लकीरें खींचते हैं। उन पर केले के पत्ते रखे जाते हैं। फिर पूजा शुरू होती है। एक बड़ा दिया जलाकर सामने रखा जाता है।

देउरी दींगा के सामने मुर्गे की बलि देता है, फिर कटे हुए सिर को दाहिनी तरफ से आठवें पत्ते पर रख देता है। मुर्गे के कुल तेरह टुकड़े कर हर पत्ते पर रखा जाता है। उसकी अंतड़ियों को माला की तरह ऊपर दींगा के छेद के लिए बने ऊपरी पल्ले जैसे तने पर पहना दिया जाता है। हर पत्ते पर मौसम का ताजा फल,

एक-एक बोटी व धुला चावल रखा जाता है। उसके बाद गाँववासी एक-एक कर आते हैं और अपनी श्रद्धा अनुसार दींगा के छेद में अण्डे, चूजा, मुर्गा, फल आदि डालते हैं। फिर आउसार या खोनाली के सुनहरे फूल हाथ में लेकर सात परिक्रमा करते हुए कहते हैं- हमें व हमारे परिवार को बीमारियों-रोगों से दूर रखना, हमारे पेड़-पौधे, बेल, फूल, पशु-पक्षी स्वस्थ रखना, फसल की पैदावार बहुत अच्छी करना। यह कहकर उन फूलों को सात बार अपने सिर पर से घुमाकर दींगा के छेद में डाल देते हैं। फिर देउरी सभी पर चावल के पानी के छींटे डालते हुए कहता है- 'कैसाखा इती माँ' (सब कुछ आपके भरोसे है, हे काली माँ!)।

इसके बाद दो कुँवारे लड़के बाँसों से पकड़कर पूरी दींगा को उठाकर सात बार घूमते हैं और गाँव का एक बुजुर्ग तीन बार कहता है- 'हे कासाआरती नामोय! हरी बोल, हरी बोल, हरी बोल'। एक कुँवारी लड़की के गले में जूँमाई की मटकी और एक के गले में पीथा डाल सभी लोग साथ-साथ (बुजुर्गों को छोड़कर, जो वहाँ रुक-रुककर खाना बनाते हैं- सुअर, चावल, पीथा) नदी तक जाते हैं। रास्ते में सभी बच्चे बड़े मटकियों में से जूँमाई और पीथा निकालकर खाने का प्रयास करते हैं। सभी नाचते-गाते नदी तट पर पहुँचते हैं। फिर दोनों लड़के दींगा को लेकर नदी में उतर उस श्रद्धापूर्वक सिरा देते हैं। गाँव के लोग कूद-कूदकर उसमें से सामान निकालने का प्रयास करते हैं, जिसे जिन्दा मुर्गी मिलती है, वह खुशकिस्मत होता है, क्योंकि वह मुर्गी पूरे जीवन में बहुत-से अण्डे देती है- यह माना जाता है। उसके बाद सब पूजास्थल पर लौटकर खाना खाते हैं, फिर घर लौटते हैं।

बोइसागो के अलावा काती मास में फूलती हुई फसल की सुरक्षा के लिए पूजा करते हैं। बोरो लोगों में रोणोमुंदी नृत्य बहुत प्रचलित है, जो एक युद्ध नृत्य है। इसमें लड़कियाँ ढालें और तलवारें बाथू के सामने रख नृत्य करते हुए पूजा करती हैं, फिर रणबाँकुरों को तिलक लगा, ढाल-तलवार दे, युद्ध के लिए विदा करती हैं। अब यह सिर्फ प्रतीकात्मक है। बोरो लोगों की बहुत-सी मान्यताएँ हैं, जिन्हें वे अभी भी मानते हैं, जैसे -

(1) लड़कियाँ बाथू को पूजा का लाल कपड़ा बनाकर चढ़ाती हैं और ईश्वर से अच्छा कपड़ा बुनने की कला का आशीर्वाद लेती हैं। यह कपड़ा विवाह से पहले चढ़ाना

जरूरी होता है, नहीं तो उसकी आँखें खराब हो जाती हैं।

(2) हर पूजा में बलि चढ़ाते समय पहनने वाला गमोसा और आरोनाय जजमान को भेंट देना होता है। शेष वस्त्र देउरी की पत्नी बनाती है।

(3) विवाह के समय दुल्हन को लाल आगोरगुबोई केवल सीने से बाँधना होता है। यदि उसने कमर पर कपड़ा बाँधा तो वह कोलोंकणी कहलाती है और उसका विवाहित जीवन सुखमय नहीं होता।

(4) जिस लड़की को कपड़ा बनाना नहीं आता या जिसके बाल कमर तक लम्बे नहीं होते, उसका विवाह नहीं होता। लम्बे बालों के लिए लड़कियाँ नदी पर जाकर पूजा करती हैं और आशीर्वाद माँगती हैं कि उनके बाल नदी जितने लम्बे हो जाएँ।

(5) पुराने समय में विवाह के लिए लड़का अपनी पसंद की जिस लड़की का हाथ रास्ते में पकड़ लेता था, उसे इच्छा या अनिच्छा से वह विवाह करना ही होता था, क्योंकि छुई हुई लड़की से कोई और विवाह नहीं कर सकता।

(6) विवाह के समय दुल्हन को पहले से नोमानो में लाकर रख लिया जाता है, फिर निश्चित समय पर बाथू के सामने दूल्हा-दुल्हन विवाह करने के बाद पहला दिन और रात नोमानो में ही व्यतीत करते हैं। नये परिवार में पहला कपड़ा दुल्हन माइनो बूरी के लिए ही बुनती है, तभी घर-परिवार में बरकत आती है।

बोरो भूमि असम के काफी बड़े क्षेत्र में फैली थी, जिसमें से कुछ हिस्सा हाजोंग को दे दिया गया। आज भी बोरो लोगों के खेतों में मुसलमान, हाजोंग व सौटाल काम करते हैं। अब सौटाल भी अपने लिए स्वतंत्र क्षेत्र की माँग कर रहे हैं। बोरो लोगों ने बोडोलैंड के लिए संघर्ष किया। वे ढाल और तलवार प्रतीकों को अपने कपड़ों में भी बनाते थे। अब वे बुनाई करके आधुनिक कपड़े भी सिलने लगे हैं, जैसे- टोपी, टाई, स्कर्ट, कुर्ता आदि। आज अपने नृत्य और कपड़ों के लिए वे देश-विदेश में ख्याति

प्राप्त कर चुके हैं। बोरो ब्रह्मधर्म को मानते हैं, उनमें जाति और दहेज जैसी कुरीतियाँ नहीं हैं।

स्तला के चारों ओर बने एक-एक घर में से नोमानो (उत्तर) की ओर बना घर पूजा-पाठ, विवाह आदि में अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। नोमानो दो भागों में विभाजित होता है, एक में घर के मालिक-मालकिन रहते हैं और दूसरे में एक छोटा कमरा बना हुआ होता है, जिसकी पूर्वी दीवार के बीच में एक छोटा-सा छेद होता है। इस कमरे के बीच में माइनो बूरी (पार्वती देवी) का निवास होता है। मान्यता है कि यदि कोई उस छेद से झाँककर बूरी को देखने का प्रयास करता है, तो उसकी आँखों में निरन्तर पानी बहने की बीमारी हो जाती है और जब तक वह बोइसागो में हंस की बलि नहीं दे देता, तब तक उसकी आँखें ठीक नहीं होती हैं।

आसाम से अलग मेघालय, जिसका अर्थ है बादलों का घर, 2 जनवरी, 1972 को समूर्त हुआ। भारत के लिए यह ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं राजनैतिक महत्त्व रखता है। एक तरफ आसाम तो तीन तरफ बांग्लादेश से घिरे मेघालय में गारो, खासी एवं ज्यैन्तिया पर्वत श्रृंखलाएँ हैं।

यह खूबसूरत प्रदेश अपने औषधीय पौधों, करीब तीन हजार किस्म के दुर्लभ जानवरों व पक्षियों के लिए प्रसिद्ध है। दुनिया में सर्वाधिक बारिश वाला जिला चैरापूँजी इसी प्रदेश में है।

यह एक मातृ-सत्तात्मक प्रदेश होने के कारण स्त्री और पुरुषों को समान तरजीह देता है। 19वीं शताब्दी से यह ईसाई प्रधान प्रदेश है। उससे पहले वे केवल अपनी कबीलाई संस्कृति को ही मानते थे। खासी, गारो और ज्यैन्तिया पर्वत श्रृंखलाओं के नाम इन तीन प्रमुख जनजातियों के आधार पर हैं, जो इस प्रदेश में बहुलता के साथ हैं। हर जनजाति की यहाँ जीवन आरम्भ को लेकर अपनी अलग कथाएँ हैं। इनका उद्भव, बोली एवं इतिहास असमान होने के बावजूद- इनका संगीत, बुनाई, बाँस का काम एवं लकड़ी पर नक्काशी की कला सभी में समानताएँ हैं। यहाँ लोग रेशम की कताई के साथ ही कालीन, वाद्य, गहने एवं अन्नानास के धागों से चीजें बनाने का काम भी खूबसूरती से करते हैं। 'पोकर' कला जिसमें बाँस के ऊपर दहकते लोहे से आकृतियाँ उकेरी जाती हैं, एक गारो विशिष्टता है।

खासी विद्वान लोगों का कहना है, खासी उत्तर-पूर्व म्याँमार से असम के रास्ते मेघालय में आकार बसे। हालाँकि खासी लोगों में कुछ और भी कथाएँ प्रचलित हैं। मेघालय के खासी और ज्यैन्तिया पर्वतों की तराई में रहने वाली खासी जनजाति मेघालय की 50 प्रतिशत आबादी बनाती है। इन्हें 'की खासी' भी कहते हैं। विद्वान कहते हैं कि खासी लोग उत्तरी म्याँमार से यहाँ आए हैं। उनकी भाषा भी 'मों ख्मेर' उत्तर-पूर्व एशिया में बोली जाने वाली बोली से मिलती है। लेकिन इनके अस्तित्व के प्रारम्भ से सम्बन्धित दो अन्य कथाएँ भी प्रचलित हैं।

पहली कथा के अनुसार प्राचीन समय में रोज सोलह परिवार स्वर्ग और धरती के बीच बनी 'जिंगिंग क्सआर' (सोने की सीढ़ी) से नीचे उतरकर आते और दिन भर खेती करके वापस लौट जाते हैं। लेकिन एक दिन जब नौ परिवार ही ऊपर चढ़ पाये, रस्सी बीच में ही टूट गई, और बचे हुए सात परिवारों ने खासी जनजाति बनायी। कुछ परिवारों से कई खासी कबीलों के बनने की प्रक्रिया को 'न्यून्ट्रेप' कहा जाता है।

दूसरी कथा के अनुसार प्राचीन समय में मोंगेश में 'साती मिलिंकांप' नाम का एक वीर नवयुवक था। उसके खेत शिलाँग की पहाड़ी के शिखर के पास ही थे। एक दिन वह घूमते हुए एक गुफा 'क्रेम मोराय' के पास जा पहुँचा। गुफा के सामने खूबसूरत फूलों के बगीचे लगे हुए थे। वहीं पास से बहने वाली नदी में एक खूबसूरत लड़की तैर रही थी, साती उसे देखते ही प्यार करने लगा। वह साई शिलाँग की बेटा थी।

साती ने गाँव लौटकर दोस्तों को रूपवती स्त्री के बारे में बताया। बहुत से लोग उस गुफा के पास गये और किसी भी तरह उस स्त्री की एक झलक पाने का प्रयास करने लगे। कई दिन बीत जाने पर भी वह गुफा से बाहर नहीं आई। एक दिन जब आसपास कोई नहीं था, साती मिलिंकांप वहाँ पहुँचा और गुफा के मुहाने पर बहुत से सुंदर फूल रखकर पास ही पेड़ के पीछे छुप गया। बड़ी देर तक किसी को ना देख उन फूलों के लालच में वह स्त्री उन्हें लेने बाहर आई, तो साती ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे 'का पाह सिन्थ्यू' नाम दिया, क्योंकि वह खूबसूरत फूलों के लालच में गुफा के बाहर आई थी। साती उसे विवाह कर के घर ले आया। दो बेटों को जन्म देने के बाद वह उसी गुफा

में जाकर गायब हो गई और फिर कभी वापस नहीं आई। बेटों ने साइम शिलाँग या खासी जनजाति बनायी, क्योंकि वह लड़की साइ शिलाँग की बेटी थी। आज भी शिलाँग शिखर पर वह गुफा मौजूद है और लोग उसे देखने जाते हैं।

बहरहाल, 16वीं शताब्दी तक आते-आते पच्चीस खासी कबीले पूरे मेघालय में अपने विभिन्न वीर नोउक्माओं के साथ अस्तित्व में आ चुके थे। 1860 में जब अंग्रेजों ने ज्यैन्तिया पर्वत पर अधिकार किया तो 'यूतू तीरत्सिंग' के नेतृत्व में खासी लोगों ने वीरता से मुकाबला किया और शहीद हुए। 1862 में हुए एक समझौते नोनाखाओ के तहत यह एक राज्य और आर्थिक, शैक्षणिक एवं व्यावसायिक परिवर्तन के साथ ही खासी लोगों की परम्पराओं एवं संस्कृतियों में भी परिवर्तन आने लगा। उनमें से कई ईसाई धर्म अपनाने लगे और अन्तर्जातीय विवाह भी करने लगे। 1972 में गारो-खासी के संयुक्त संघर्षों के बाद मेघालय अलग राज्य हुआ। खासी लोग अपने युद्ध, नृत्य, मस्ती के लिए काफी लोकप्रिय हैं।



गारो - गारो इतिहास बताता है- वे तिब्बत से यहाँ आकर बसे हैं। वीर गारो योद्धा जाप्फा जालोम्फा एक नाव में गारो लोगों को ब्रह्मपुत्र के रास्ते कृषि भूमि की तलाश में यहाँ आ बसा। उनके नोउक्मा आबोंग च्छिरेपू ने कबीलों को एकत्र कर इस क्षेत्र को बसाया। गारो खुद को अचिक कहलाना पसंद करते हैं और अपनी भूमि को अचिक भूमि। गारो जनजाति के लोग असम, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल एवं बांग्लादेश में भी मिलते हैं। 1860 में ब्रिटिश हमले के दौरान गारो योद्धाओं ने शहीद फा थोगन निंगमजा संगमा के नेतृत्व में युद्ध किया और 1862 में समझौते के बाद हुए परिवर्तन के दौरान बहुत से गारो लोगों ने ईसाई धर्म अपना लिया।

प्राचीनकाल में ग्यारह कबीले हुआ करते थे- हाँम्बेंग, मताबेंग, छीत्साक, रूगा, दुआल, अखावे, अतोंग, मेडगाम, छीबोग, आऽऽवे, मत्च्छी और गरागन्च्छी। सभी कबीले विभिन्न पहाड़ियों या जंगलों में बसे थे और सभी का एक दूसरे कबीलों में घुसना वर्जित था। सभी की बोलियाँ अलग-अलग थीं। गाँव के बाहर एक ऊँचे पेड़ या पहाड़ पर बंदर को काटकर उसका सिर टाँग

दिया जाता था, जिसका संकेत होता था कि अन्य कबीले का प्रवेश वर्जित है। यदि कोई अंजाने में प्रवेश कर जाता तो उसे जुमाने के तौर पर मिथुन (गाय, बैल) देना पड़ता था और यदि कोई जानबूझकर प्रवेश करता था, तो लड़ाई कर उसका सिर काट अपने घर में लाकर टाँग लिया जाता था। अधिक सिर काटने वाले को मातृत (वीर योद्धा) कहा जाता था।

पुराने समय में गारो लड़कियाँ सिम्पाक पेड़ की छाल को पीट-पीटकर चपटा करके फैलाकर सुखा लेती थीं, फिर उसे खल्ला (एक बेल से बाँस की सुई की मदद से सिलकर पहना करती थीं।) पुरुष केवल लंगोट पहनते थे।

कुछ समय बाद स्त्रियों ने कपड़ा बुनना सीखा, जिसमें नीचे की तरफ वे उसमें हाथी दाँत भी बुना करती थीं, जिसके कारण कपड़ा थोड़ा भारी हो जाता था और सुंदर भी लगता था, पहनने लगीं। इस कपड़े को रेहखन करते थे। यह काला, लाल या नीला होता था। इसके बाद आया दाकमाँदा, जो आज गारो स्त्रियों की सांस्कृतिक पोशाक है। वे लोग पारम्परिक रूप से इन कपड़ों पर हीरे, नोउक्मा, ढोल, तलवार-ढाल एवं ट्री हाउस के प्रतीक बनाते हैं।

गारो लोगों का मुख्य त्योहार वांगला है, जिसे वे लगातार तीन दिनों तक मनाते हैं। यह फसल की कटाई के उल्लास में मनाया जाता है। सभी गाँववासी नोउक्मा के घर एकत्र होकर वांगला नृत्य में शामिल होते हैं। लड़के-लड़कियाँ विवाह के लिए एक दूसरे से प्यार का इजहार करने की रस्म भी इसी में अदा करते हैं। इस रिश्ते को नोउक्मा की सहमति भी मिलती है।

स्त्रियाँ दकमाँदा (हीरों के प्रतीक वाला), सेंडगखी (हाथी दाँत से बनी चौड़ी-सी करधन), रंकदो (काँच की बनी माला), स्लिरिंगदिंग (तेरह लड़ियों वाली सोने या चाँदी की माला) पहनती हैं। पुरुष 'गंथब' पहनते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही सिर पर खमखा (पगड़ी) पहन उस पर मुर्गे के पंख लगाते हैं। वांगला के समय नोउक्मा ढाल-तलवार अन्य पुरुष ढोल लेकर स्त्रियों के साथ नृत्य करते हैं। यह नृत्य नोउक्मा के बिना सम्भव नहीं है। यह त्योहार कार्तिक माह में आता है।

वांगला के अलावा गारो क्रिसमस एवं ईस्टर भी मनाते हैं। लेकिन खेती आरम्भ करने से पहले अपने घरों में गारो मुखिया 'मिसी सालजोंग' (फसल के देवता) की पूजा करते हैं। इस पूजा में कुछ मंत्रों का उच्चारण किया जाता है-

पोइ सा पोईग्मी पोइ-गत्ताम,
हा-मीमिमा र्को-मीमा
स्गाल माल्साओमी रीपोक छिगाओनी
मिक्का सिम्मिंग बादुरीमिंग
री बाए दो बोए दया अँग्री अऽऽ आओना
इआ अँग्री अ जाओना
गये सोंनोबो ग्ये ज्योतेबा का।

गारो लोगों को विश्वास है- मिसी सालजोंग के आशीर्वाद से ही उन्हें हर सुख प्राप्त है। वह समुद्र के ऊपर रहता है, उसकी कृपा से मिट्टी उपजाऊ होती है। वह उससे प्रार्थना करते हैं कि इस भूमि में भी आकर मिट्टी की कमियाँ खत्म कर इसे उपजाऊ बनाए।

गारो लोगों में विवाह के बाद लड़के को लड़की के घर जाकर रहना होता है, लड़की के उपनाम को ही अपनाता होता है। विवाह तय करने के लिए लड़की के माता-पिता लड़के के घर मीनल बच्छी (सबसे अच्छी चावल की शराब), मीसी बच्छी, मुर्गा, सुअर लेकर जाते हैं। रिश्ता पक्का होने पर उसके आँगन में ही मुर्गा व सुअर काटकर खाना खाते हैं। यदि लड़का राजी नहीं होता है, तो कुछ समय बाद लड़के को जबर्दस्ती उठाकर अपने घर में बंद कर लिया जाता है। उसके बाद एक मुर्गे को गुदा की तरफ से काटकर उसके कलेजे (लिवर) को निकालकर देखा जाता है। यदि कलेजा गुर्दे (किडनी) से जुड़ा हुआ होता है, तो यह एक सफल खुशहाल विवाह का संकेत होता है और इस जोड़े का विवाह सम्पन्न कर दिया जाता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि यह विवाह के बाद जीवन में दुःखों का संकेत देता है। विवाह में दूल्हे और दुल्हन के वस्त्र काले और सफेद होते हैं। विवाह की खुशी में पूरा गाँव पारम्परिक वाद्यों की धुन पर नृत्य करता है। चावल, सुअर व मीनल बच्छी की दावत दी जाती है। सुअर या बकरा पकाते समय गारो या कहेँ पूरे पूर्वोत्तर की लगभग सभी जनजातियाँ पहले किसी किसम के तेल या घी का प्रयोग नहीं करते थे, उसके स्थान पर 'कलछी' डाली जाती है। यह दो प्रकार

से बन सकती है। गारो लोग इसे अपने पारम्परिक तरीके से तैयार करते हैं।

बाँस की कलछी - कच्चे बाँस को पूरी तरह से जलाने के बाद ठण्डा कर उसकी राख में पानी मिलाकर छाना जाता है। इस प्रक्रिया में प्राप्त हुआ पदार्थ पकती हुई सब्जी में डाल दिया जाता है। यदि माँस कड़ा भी हो तो कलछी डालने से जल्दी ही मुलायम होकर पक जाता है।

केले की कलछी - केले के तने का अंदरूनी सफेद मुलायम भाग धूप में सूखने के लिए रख दिया जाता है। सूखे हुए तने को जलाकर, उसकी राख में पानी मिलाकर छान लिया जाता है, जो कि करी में डालने वाला कलछी होता है। जबकि यही कलछी बनाने के लिए मिशिंग लोग केले के तने (सफेद मुलायम भाग) को धीमी आँच में किसी ढँके हुए बर्तन में गरम करते हैं और किसी नली के माध्यम से उसकी भाप को बोतल में एकत्र करते हैं। प्राप्त हुआ तरल पदार्थ दो चम्मच डालने पर ही करीब एक से डेढ़ किलो माँस को पकाने के लिए पर्याप्त होता है।

अपाँग बनाने की गारो विधि मिशिंग लोगों से कुछ अलग है। वे चावल को सूखी मिर्च, समाक्खी (मखाने की जड़), गन्ने के पत्ते (सीनी बोखाँग) के साथ मिलाकर कूट लेते हैं। इस कुटे मिश्रण का पीथा (गोला) बनाकर चूल्हे से कुछ ऊपर लगी लोहे की जाली के ऊपर एक मिट्टी के बर्तन में डालकर केले के पत्ते से ढँककर रखा जाता है। यदि अधिक अपाँग चाहिए हो, तो दो से तीन हफ्ते तक रखा जाता है। बच्चे चोरी-छिपे पीथा या उसमें पैदा हुए कीड़े निकालकर खाया करते हैं। जब अपाँग तैयार हो जाता है, उसे लौकी के तुम्बे से निकालकर अलग मिट्टी के बर्तन में रखा जाता है और बचे हुए पीथा में और पानी मिलाकर दस मिनट घोलने एवं रखने के बाद और अपाँग निकाला जा सकता है।

अपाँग को दो या तीन दिनों से अधिक नहीं रखा जा सकता। यह इतना तेज होता है कि काँच में बंद करो तो बोतल फूट जाती है, प्लास्टिक पिघल जाता है और बदबू असहनीय हो जाती है। अपाँग में बहुत-से औषधीय गुण होते हैं। इसे पीने से प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है, इसमें शर्करा व लौह तत्व की अच्छी मात्रा होती है। पीलिया के मरीज को तीन दिनों में ही ठीक कर देता है।

पूरे पूर्वोत्तर में बूरा ताम्बूल (सुपारी) का महत्त्व केवल पूजा में ही नहीं, बल्कि खाने में भी बहुत उपयोग किया जाता है। वे छोटी सुपारियों को पेड़ से तोड़कर छः-सात महीने के लिए तालाब या पास के पोखर में, छोटे से हिस्से को बाँध-डालकर रखते हैं। खाने के लिए सुपारी को तुरंत निकालकर छीलकर दाँत से काटकर खाया जाता है। सड़ी हुई सुपारी की दुर्गन्ध इतनी तेज होती है कि वहाँ खड़े होना मुमकिन नहीं होता है।

गारो लोगों में एक कथा 'दुम्बे वारी' बहुत प्रचलित है, जिसे वे सच मानते हैं और उसके सबूत भी आपको दिखाते हैं। 18वीं सदी में बात है- इमाँद्री गाँव में एक अनुपम सुंदर लड़की थी- दुम्बे। उसका विवाह जबर्दस्ती उसके ममेरे भाई जोरेंग से करवा दिया गया। जोरेंग को इस बात का घमण्ड हो गया कि उसकी पत्नी तो प्रकृति की किसी भी खूबसूरत चीज से ज्यादा सुंदर है। यदि कोई उसके सामने चाँद, उगते सूरज, नदी, फूल या किसी भी चीज की प्रशंसा करता, तो वह कहता - 'हँ: मेरी पत्नी दुम्बे से ज्यादा सुंदर नहीं'।

एक बार जोरेंग अपने दोस्त के साथ नदी में नहाने गया, वहाँ पर एक जलपुरुष चट्टान पर बैठा अपने बाल सुखा रहा था। दोस्त के मुँह से निकला- 'आह! कितना सुंदर है यह!' जोरेंग तुरत बोल पड़ा - 'हँ: मेरी पत्नी दुम्बे से अधिक नहीं'। वह जलपुरुष मत्स्य लोगों का राजा था, सुनकर सोच में पड़ गया कि इतनी भी क्या खूबसूरत है इसकी पत्नी, देखना चाहिए ..। दूसरे दिन वह जलपुरुष बूगाराजा एक गहने बेचने वाले व्यापारी के रूप में गाँव पहुँचा। वहाँ बहुत-सी स्त्रियाँ उसके पास गहने खरीदने आईं। एक बेहद खूबसूरत रत्नजड़ित कड़ों का जोड़ा सभी ने ललचाकर एक-एक पहनने का प्रयास किया, वह किसी के हाथ में नहीं आया, तब एक लड़की बोली - 'यह तो दुम्बे के लायक है।' यह सुनते ही व्यापारी ने कहा- 'मुझे उसके पास घर ले चलो, शायद वह इन्हें खरीद ले।' लड़की व्यापारी को दुम्बे को घर ले गई। दुम्बे के अलौकिक रूप पर वह भी मोहित हो गया। दुम्बे ने उन कड़ों को देखने के लिए हाथ में पहना तो वे अटक गये। व्यापारी द्वारा भारी कीमत माँगने पर वह घबरा उठी और बोली- 'मेरे पति घर में नहीं हैं, मैं इतना धन नहीं दे सकती।' व्यापारी कड़े वापस माँगने लगा। बहुत प्रयास के बाद भी नहीं निकलने पर बोला- 'नदी पर चलो, उसके पानी से

निकल जाएँगे।' दुम्बे कहना मान नदी पर पहुँची, पानी में हाथ डालते ही जलपुरुष अपने असल रूप में आकर उसे पानी में खींच ले गया। दुम्बे बहुत रोई, विरोध किया, अपने दुधमुँहे बच्चे और बेटी का वास्ता दिया, लेकिन बूगाराजा न माना। आखिर में उसने दुम्बे को दिन में तीन बार नदी के बाहर चट्टान पर आने की इजाजत दी, जहाँ उसकी बेटी अपने दुधमुँहे भाई को लेकर आती और दूध पिलवा कर वापस ले जाती।

उधर घर लौटने पर दुम्बे को न पाकर जोरेंग बहुत दुःखी हुआ और हर जगह उसे खोजने लगा। एक दिन अपने बच्चों का पीछा कर वह सच्चाई जान गया और फिर अपनी धारदार तलवार ले नदी में पहुँचा। पत्नी के बाहर आने पर उसने देखा कि बूगाराजा दुम्बे का पैर पकड़े हुए था, तलवार से हाथ काटकर दुम्बे और बच्चों को ले दूर एक पहाड़ी के ऊपर गत्दंग (बरगद) के पेड़ पर घर बनाकर रहने लगा। गाँव से जरूरत की चीजें उसका दोस्त लाकर दे देता। एक दिन जब वह दोस्त सामान लेकर आ रहा था, तब एक अन्य जलपुरुष ने उसका पीछा किया और दुम्बे का पता लगा लिया। वापस आकर बूगाराजा को बताने पर सभी ने मिलकर दुम्बे के परिवार पर हमला किया। दोस्त एवं जोरेंग को मारकर वे दुम्बे को अपने साथ ले पास ही बने तालाब के अन्दर चले गये। कहते हैं- बच्चे बिलख-बिलखकर उसी वारी (तालाब) में डूबकर मर गये।

आज भी इमाँद्री गाँव के पास पहाड़ी पर गत्दंग का वह पेड़ और दुम्बे वारी मौजूद है। देश-विदेश से आए पर्यटक उस स्थान को भी अलग से देखने जाते हैं। गारो लोगों को अब भी मत्स्य लोगों के अस्तित्व पर विश्वास है।

यह सभी केवल कुछ छोटे-से उदाहरण हैं, जिनसे यह समझा जा सकता है कि पूर्वोत्तर की वेशभूषा, संस्कृति, रिवाज, दिनचर्या, रहन-सहन, खान-पान शेष भारत से कितना अलग और आज भी कितना समृद्ध है। उन्होंने गौरवपूर्ण परम्पराओं को आज भी जीवित रखा है और यह सच है कि प्राकृतिक सम्पदा की धरोहर अब तक पूर्वोत्तर में संचित है।

माजुली के दो गीत

- (1) से, सेरे सेससेराऽऽ
सेऽऽ रेऽ रे सेऽ से रे रे से रे रे से से रा

आदी सेले दी से सेले
 क्ये-क्ये राँदँगा
 बान्जी सो, न्यिक याँगे तगाइ
 क्ये-क्ये राँदँगा
 काउए किदार का पोंग काकुइ
 क्ये-क्ये राँदँगा
 बान्जी को बाँग पागे योउला
 क्ये-क्ये राँदँगा
 मा मो कॉम्पुऽऽम यमसा नापे
 क्ये-क्ये राँदँगा
 से से रे से स्से रा
 से रे रे से रे रे से से रे से रे रे सेरा

- (2) मा मो काम्पुँग सा पो योका
 से रे रे रे स्सेरा
 मा मो कान्पुँन सा मा दापे
 सेरे रे स्से रा
 बान्जी को बाँग दिरग्ये दु बोंग
 सेरे रे स्से रा
 मा मो काम्पुन्ग दु मा दापे
 से रे रे स्से रा
 बान्जी को बाँग तगगे योका
 से रे रे से रा

यह गीत कार्बी लड़के-लड़कियाँ जिली आलोन नृत्य में गाते हैं। युवा लड़के इस गीत के माध्यम से नवयौवनाओं को नृत्य के लिए आमंत्रित करते हुए कहते हैं कि अब वे छोटी लड़कियाँ नहीं रह गई हैं, युवा हो चुकी हैं, उन्हें संकोच नहीं करना चाहिए और इस खूबसूरत युगल नृत्य के लिए आ जाना चाहिए। सभी बड़े बुजुर्गों की रजामन्दी इस नृत्य के लिए रहती है।

जिली आलोन

- (3) जिली जोन पान थ्ये ताँगलो
 जिली जोन पान थ्ये ताँगलो

लसा कान नाँग रूँग पोंन पो
 लसा कान आलोन क्येदोऽ हाऽऽ एऽऽ हाऽहाऽऽए
 सेऽऽ से सेऽऽ रे आ सेऽऽ,

न्ये तुन कार्बी अथारे
 थारे आँग ताक सो आँगसे
 आँग ताक न्ये पू नाँगने
 न्ये तुम जुताँग थाक साँ से
 से रेऽऽ आ सेऽऽ ऽऽ सेऽ सेऽ,

जिली जोन पान थ्ये ताँगलो
 जिली जोन पान थ्ये ताँगलो

न्ये तुम चोम कान दुन आँगली
 थारे सामे छे प्येंग सी
 न्येमसो रंग दुन आँग डी डी
 से रेऽऽ आ सेऽऽ से... से से रे

जिली जोन पान थ्ये ताँगलो
 जिली जोन पान थ्ये ताँगलो
 जिली जोन पान थ्ये ताँगलो
 जिली जोन पान थ्ये ताँगलो

यह गीत बोरो लोग बाथू की कलम काटकर नये घर के आँगन में रोपते हुए गाते हैं। वे सभी शुभ, वैभव एवं स्वास्थ्य को देने वाले बाबा को धन्यवाद करते हैं और अपने जीवन से अंधकार और नैराश्य खत्म कर हिम्मत और सहारे के लिए प्रार्थना करते हैं।

मेथाई बाथो अरज

हे आफा जोंगनी गीबि गोसाई
 हे आफा जोंगनी गीबि गोसाई
 ओसे जिउनी बाथो बोराह

पूजियो दिनै नौखौ जों सिजू गूदियोव
 बऽर सरफोइदा आफा सऽराँग सरफोईदा

दिनै जँऽनि बेऽऽ खऽऽ मसी अलाउरी गुऽसऽऽवाव
 दिनै जँऽनि बे निदाँगनी सोऽऽ माव

मिथी सौ हाया जँऽऽगँऽ नोहऽऽ सोवा
नोंऽनि बे गेलेनायखो बुहुम बिखायोव

हे आफा जोंगनी गीबि गोसाऽई
हे आफा जोंगनी गीबि गोसाऽई

यह लोरी गोई फिसा (प्यारे भाई) को सुलाने के लिए बड़ी बहन गाती है। वह कहती है कि- प्यारे भाई! तुम सो जाओ, माँ अभी मछली पकड़ने गई है। वह तुम्हारे लिए एक बड़ी मछली लाएगी, जिसे हम पकाकर खाएँगे। तुम सो जाओ, नहीं तो माँ नाराज हो जाएगी।

देउरी लोरी

दाऽऽ उगा गोइ पिसा नियो यो-यो जा।
नियो यो-यो खिरोड़ी से-से निखूनाथ।

को नोई देरी जाय, गोई पिसा को नोइ देरी जाय।

दाऽऽ उगा गोइ पिसा नो ना माई बोबदा से-से निखुनोई
खिरोड़ी गोइ पिसा

नो शुगा दुऽऽरे गोइ पिसा यो-यो औना

नो शुदुँगा हा गोइ पिसा

पिगी कुँन गोई पिसा नो शुगा दुऽऽरे गोइ पिसा।

यह गीत देउरी स्त्रियाँ कपड़ा बुनते वक्त गाती हैं। इसमें स्त्री कह रही है- सखी! तुम्हारी बहुत याद आ रही है, मैं कपड़ा बुन रही हूँ, पानी बरसने के कारण सूत गीला हो गया है और कपड़ा बुनने में कठिनाई आ रही है, सूत टूट रहा है। हे कुदी मामा (भगवान शिव)! मेरी सखी को भेज दो, मुझे उसकी बहुत याद आ रही है।

लोक वाद्य

ललितनारायण उपाध्याय

हमारे देश के लोक जीवन में लोक वाद्यों का बहुत महत्त्व है। वाद्य अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ वाद्य सरल और सस्ते होते हैं, तो कुछ वाद्य शास्त्रीय वाद्य होते हैं, अर्थात् इनकी बनावट सरल नहीं होती तथा ये सस्ते और सहज सुलभ नहीं होते। भारतीय लोक वाद्यों में एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे सरल, सस्ते और सहज-सुलभ हैं। हमारे लोक वाद्यों में से कुछ बहु-प्रचलित लोक वाद्यों का यहाँ हम परिचय दे रहे हैं।

घण्टा

यह पीतल और जस्ते या ताँबे-पीतल आदि मिश्रित धातुओं का बना होता है। इसके बीच में एक घण्टी या लोलक लटकता रहता है, जिसकी सहायता से इसे बजाते हैं। घण्टा या घण्टी प्रत्येक मंदिर के प्रदेश द्वार पर बना या लगा होता है। प्रवेश करते ही हम इसे बजाकर अपनी अराधना करते हैं। आरती के समय घण्टा बजाकर लय ताल को जारी तथा क्रमबद्ध रखा जाता है। बड़े-बड़े मंदिरों में जब घण्टनाद होती है तो हमारा मन श्रद्धा और भक्ति से भर जाता है।

मंजीरे

मंजीरे दो छोटी गोल-गोल थालीनुमा आकार की बनी होती हैं। इसमें पीतल-ताँबे या जस्ता उपयोग में लाया जाता है। ये मिश्रित धातुओं का भी होता है, जिससे इनकी ध्वनि सुमधुर होती है। बीच में एक-एक छेद बनाकर इन्हें लकड़ी के गट्टों से पकड़ने योग्य बना दिया जाता है। इनकी सहायता से इन्हें बजाया जाता है। भजन, कीर्तन, स्वांग आदि के समय मंजीरे बजाए जाते हैं।

करताल

ये चतुर्भुज आकार के लकड़ी के दो-दो टुकड़े के होते हैं, जिनके बीच में झनकार या आवाज के लिए लटकन लगे होते हैं। इन

दोनों को आपस में टकराकर भजन कीर्तन में मधुर ध्वनि उत्पन्न की जाती है तथा लय और ताल क्रमबद्ध किए जाते हैं। महाराष्ट्र में यह विशेष प्रकार की 'चिम्पड़ी' कहलाती है।

मरचंग

यह लोहे की बनी होती है, जिसके अंदर हिलती हुई लोहे की ही जीभ-सी लगी होती है, जिसके कारण यह बजती है। इसे बजाने के लिए थोड़ा बहुत अभ्यास या प्रयास करना होता है। इसके पश्चात् इसे आसानी से बजाया जा सकता है। यह लोकवाद्य राजस्थान तथा दक्षिण भारत के बहुत बड़े क्षेत्र में लोकप्रिय है।

घुँघरू

घुँघरू पीतल की बनी हुई गोल छोटी-छोटी घण्टियाँ होती हैं। इसके अंदर छोटे-छोटे कंकड़नुमा पीतल के टुकड़े होते हैं। घुँघरू चमड़े में विशेष प्रकार से मढ़ाए या सजाए जाते हैं। साधारणतः घुँघरू रस्सी सुतली की सहायता से उनमें पिरोकर पैरों में इस प्रकार बाँधे जाते हैं कि ठीक से बंध भी जायें तथा पैरों को कोई नुकसान न पहुँचायें।

चिमटा

दिखने में चिमटा कोई वाद्य सा नहीं दिखाई देता, परन्तु जब इसे लय और ताल मिलाकर बजाया जाता है तो सुनकर आनंद आ जाता है। आपने अनेक साधुओं को चिमटा बजाकर गाते और फेरी करते देखा होगा। आज भी सुबह जब कोई जोगी चिमटा बजाकर गाते हुए निकलता है तो मन भाव-विभोर हो जाता है। उसके गान को सुनकर ईश्वर की भक्ति में रम जाता है। चिमटे में केवल दो फल होते हैं। चिमटा एक गोल कड़े की सहायता से भी बजाया जाता है। एक रोचक तथ्य यह है कि-चिमटा संकट के समय साधु की रक्षा का हथियार भी बन जाता है। चिमटे की आवाज से अंधे साधु मार्ग में आने वालों को सचेत भी करते चलते हैं और समय-असमय अपनी रक्षा भी करते हैं। इस प्रकार यह वाद्य भी है और हथियार भी है।

मादल

मादल आदिवासियों का प्रधान लोक वाद्य है। जंगल में जब मादल गूँजता है तो आदिवासी का मन झूम उठता है। पथिक मादल की आवाज सुनकर मंत्र-मुग्ध हो जाता है। मादल लकड़ी का बना होता है। इसका आकार ढोलक सा होकर भी उससे

थोड़ा भिन्न होता है। इस पर उपयुक्त जानवर की खाल मढ़ी जाती है। इसके दो मुख होते हैं, जिन पर जौ का आटा लगाया जाता है। मादल इस आटे के लेप के कारण बहुत ही मधुर ध्वनि करते हैं।

चंग

लकड़ी के विशेष प्रकार के घेरे पर भेड़ की खाल से चंग बनाया जाता है। इसे कंधे या जांघों आदि पर सावधानी से 'रखकर' इसे दो हाथों की अंगुलियों की सहायता से बजाया जाता है। इसे पतली लकड़ियों के सहारे भी सावधानी से बजाया जाता है, ताकि चंग टूटे नहीं। इसे होली तथा तीज-त्योहारों के अवसरों पर बजाया जाता है। नृत्य करते तथा गीत-गाते समय भी इसका उपयोग किया जाता है। उच्च स्तर पर जब इस पर कोई ओजस्वी गीत गाया जाता है, तब वीरों में वीर रस का संचार हो उठता है। राजस्थान के अलावा देशभर में यह लोक वाद्य सर्वत्र लोकप्रिय है।

ढोलक

ढोलक या ढोलकी भारतीयों का आम लोक वाद्य है। यह हमारे घरों में आसानी से मिल जाता है। इस वाद्य को घर में रखना शुभ माना जाता है। जरा खुशी का अवसर आया कि ढोलकी निकाली और नाचना-गाना प्रारम्भ हुआ। बच्चे का जन्म हुआ हो या उसका जन्म दिन हो, माता का पूजन हो या जलवायु पूजन रहा हो, ढोलकी की ध्वनि सुनते ही पास-पड़ोस की बहिनें इकट्ठी हो जाती हैं और बिना बुलावे के भी महिलाओं का 'स्नेह सम्मेलन' जुट जाता है। मानो ढोलकी की आवाज ही स्नेह बुलावा हो।

ढोलकी और ढोल की बनावट एक सी होती हैं। छोटे आकार प्रकार वाला यह यंत्र ढोलकी कहलाता है, तो बड़े आकार वाला ढोल। बड़े-बड़े ढोल जिनका चलन राजस्थान आदि में, लोहे के ऊपर चढ़े ऊँट चर्म से बनाये जाते हैं, जबकि छोटी-छोटी ढोलकिया बकरी के चमड़े से मढ़ी जाती है।

अधिक लोगों के द्वारा जब नृत्य किया जाता है, तब ढोल का उपयोग होता है। बड़ी ढोलकी भी ढोल के अभाव को पूरा कर सकती है। शादी-विवाहों में किसी समय ढोल वालों को ही बुलाया जाता था, इसके साथ कांसे की थाली बहुधा महिलाओं द्वारा बजाई जाती है, जो कि स्वर लय और ताल को समायोजित करने के लिए होती है। आज भी शादी-विवाहों में शहरों तथा विशेषकर गाँवों में ढोल वालों को बुलाया जाता है।

लोक विधा

पराक्रम सिंह

लोकगीत प्रकृति के उद्गार होते हैं, जिसमें अलंकार से अधिक रस, लय और माधुर्य प्रधान होते हैं। प्राचीनकाल से ही ग्रामीण स्त्रियों-पुरुषों द्वारा विभिन्न मौसम समय विशेष को नये अंदाज में गीतों के माध्यम से मौखिक अभिव्यक्ति होती रही है। लोकगीत या ग्रामगीत हर्ष, विरह, शोक, करुणा, मनोरंजन, संवेदना, समाज, धर्म, संस्कृति के परिचायक रहे हैं। इन गीतों के माध्यम से मनुष्य, समाज का वास्तविक प्रतिबिम्ब दर्पण की भाँति स्पष्ट दिखाई देने लगता है। भारत में विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के लोकगीतों का प्रचलन रहा है, जो उस समाज के जन-जीवन को पहचानने में सहायक सिद्ध होता है। मौसम की दृष्टि से भारत को छः ऋतुओं में बाँटा गया है।

ग्रीष्मकाल के बाद वर्षा ऋतु का आरंभ होता है, जिसे हिन्दू महीने के अनुसार आषाढ़, सावन, भादौ महीने को माना गया है। तपती धरती वर्षा से हरी-भरी हो जाती है। जलाशय, नदियाँ, झरना, कुआँ, पहाड़, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी जल से तृप्त होते हैं। धरती मोर, मेंढक, झींगुर की आवाज से गुंजायमान हो उठती है। आकाश से बिजली चमकती है। बादल के कारण पृथ्वी पर चन्द्रमा का पूर्ण प्रकाश नहीं आ पाता। किसान अपने नये फसल की बुवाई के लिए खेत तैयार करने लगता है। इसी महीने में लोकगीतों की रानी कजरी अर्थात् काले बादल की रात में गाया जाने वाला गीत जो सिर्फ गायन भर ही नहीं, सावन की सुंदरता और उल्लास के उत्सवधर्मी पर्व के रूप में स्त्रियों-पुरुषों के कण्ठों से सुनाई देने लगता है। चरक संहिता के अनुसार यौवन की संरक्षा एवं सुरक्षा की दृष्टि से बसंत महीने के बाद

सावन महीने को श्रेष्ठ माना गया है। इसी महीने में भक्त काँवड़ लेकर भगवान शंकर जी को जल चढ़ाने जाते हैं, तो स्त्रियाँ प्रायः सोमवार का व्रत करती हैं। नागपंचमी, रक्षाबंधन, तीज जैसे त्योहारों का आगमन भी हो जाता है। इस महीने में नयी ब्याही लड़कियाँ अपने पीहर आती हैं।

उत्तर भारत में मुख्य रूप से अपनी विशेष पहचान बनाने वाली कजरी गायन की अद्भुत पद्धति के साथ खेलने की विशिष्ट शैली रही है, जिसमें महिलाएँ अर्द्धवृत्त में झुककर नृत्य करती हैं, जिसे 'धुनिमुनिया' के नाम से जाना जाता है। कजरी को गायन की दृष्टि से ध्यान में रखते हुए इसे बनारसी, मिर्जापुरी और गोरखपुरी जैसे प्रमुख भागों में बाँटा गया है। बनारसी कजरी में ना टेक रूप में प्रयोग किया जाता है, जैसे-

रूनझुन खोला ना हो केवड़ियाँ, हम विदेसवा जइवै ना।
जो हि तू पिया जइवा विदेशवा,
हमरे भइयाँ के हे बोलाय दा हम नइहरवा जइवै ना।
जो हि तू धना जइबु नइरहवा,
जेतनी लागल वा रूपइया ओतनी दइके जइहा ना।
जो हि तु धना लेबा रूपइया,
जाइसे रहली बाबलु घरवा वैसे कहके जइहा ना।

उपर्युक्त गीत के माध्यम से स्त्री अपने पति के विदेश जाने पर वह मायके जाना चाहती है। वहीं दूसरी तरफ एक गीत में वह मायके जाने से इंकार करती हुई कहती है -

वीरन भइया आवे अनवार, सवनवा में जइवै सखी
सोने की थाली में जेवना परोसयो
जवै चाहे जाय सवनवा में ना जइबै सखी
झझरे गड़ेलुआ गंगा जल पानी
चाहे भइया पिये चाहे जाय
सवनवा में ना जइवै सखी..

मिर्जापुर की कजरी की अपनी खास पहचान है, इस संबंध में -
लीला रामनगर के वाकी, कजरी मिर्जापुर सरनाम।

कजली में प्रायः स्त्रियों के विरह के साथ ही कभी-कभी उनकी माँगें भी उभरकर सामने आती रही हैं, जो उनके मन-

मस्तिष्क, ज्ञान और हठ के रूप में आकर पति-पत्नी के प्रेम को दर्शाता है -

पिया सड़िया लियादा मिर्जापुरी पिया, रंग रहे कपुरी पिया
जवले सड़िया ना लिअइवा, तबले जेवना ना वेनइवा
हमरा बनवय में लागेला मेहनत मजदूरी पिया/ रंग रहे...

गोरखपुर की कजली में हरे रामा, हरी का टेक देखने को मिलता है -

तेरी-सावल सुरत अनमोल नयनवा बाका रे हरी।
बड़ी-बड़ी अखियाँ पर काला-काला सुरमा रामा
अरे गोरी चितइयो गलिन बीच नजरिया मारे रे हरी
झिनि-झिनि दतवाँ निसिया रामा,
अरे गोरी बोलियो रसीलो बोलि
मुकदमा जितियो रे हरी,
गोरी-गोरी बहियाँ पर हरी-हरी चुड़ियाँ रामा
अरे पहिरी नीलि की सारी लाल किनारी रे हरी।

उपर्युक्त लोकगीत के माध्यम से एक स्त्री के श्रृंगार और उसकी सुंदरता का वर्णन किया गया है, तो वहीं दूसरी तरफ एक गीत में राम के वनगमन की सूचना का वर्णन मिलता है-

हरे रामा अइसन चमेली के हार केकरे गले डाली रे हरी।
राम गले डालूँ की लक्ष्मण गले डालूँ
अरे ओ भी चले वनवास
केकरे गले डालूँ रे हरी।।

कजरी के गीतों में ननद, भौजाई के बीच में हास-परिहास और व्यंग्य के भी वर्णन मिलते हैं -

कैसे खेलय जइबा सावन में कजरिया,
बदरिया घेरि आयल सजनी,
एकतो हउ नई नवेली दूजे सखियाँ ना सहेली,
गुण्डा घेरि अइहय तोहरि उगरिया।
बदरिया घेरि आइल सजनी।

बरसात के दिनों में वर्षा के कारण स्त्रियों-पुरुषों को चर्म रोग होने की संभावना हो जाती है। ऐसे में उत्तर भारत की महिलाएँ विशेष तौर पर मेहन्दी हाथों-पैरों में लगाती हैं, जो एक तरफ उनके

सौंदर्य आकर्षण का विषय बनता है, तो दूसरी तरफ वह उन्हें स्वास्थ्य की दृष्टि से बचाता है।

पिया मेहंदी लिया द मोती-झील से, जाके साइकिल से
जाके मेहंदी लियावा छोटी ननदी से पिसावा,
हमका मेहंदी लगावा काँटा कील से, जाइके साइकिल से
तोहके पकड़ी दरवान पिया लड़ि के छोड़ाई लेव अपील से
जाइके साइकिल से, पिया मेहंदी...

सावन के महीने में स्त्रियाँ अपने पति के दीर्घ आयु के लिए व्रत करती हैं और सज-धज कर सुंदर आभूषण पहनती है, जैसाकि इस गीत में आभूषण के प्रति लगाव को दर्शाता है -

सेठ कहिया देवा हमरी झुलनिया ना,
बीतल तीजी के त्योहार बीतल तोहरा करार
अब का पहिरी माँगी केहु मगनियाँ ना। सेठ कहिया...
हम तो धावल धुपल आई लवटल जाई
बंद रहे तोहरी दुकनिया ना। सेठ कहिया...
कहिया पटर सोना मंगवइया हमरो
झुलनी तु गढ़वईबा। सेठ कहिया...
हम तो रोज-रोज आई तोहके खूब गटियाई
लौटल जाई बंद रहे ता दुकनिया
सेठ कहिया...

इस गीत के माध्यम से जहाँ स्त्री के उस सेठ के द्वारा बनाये जा रहे आभूषण के प्रति उसके आकर्षण का वर्णन होता दिखाई देता है। एक दूसरे गीत में स्त्री अपने पति से शहर घूमने की बात करती हुई कहती है-

अबकी सावन सइयां तोहे घुमावै के पड़ी
कटहल बड़हल कलमी आम बगिया-बगिया।
सखियन के खिलावै के पड़ी
उतो कलकत्ता के सारी सरिया लागी हो किनारी,
उतो बूटेदार चोलिया पिया सिवावय के पड़ी।।
अबकी सावन...
उतो हबड़ा के पुल, बंबई के बम्बा देवी,
विंध्याचल देवी के दर्शनवा तोहे करावय के पड़ी।
अबकी सावन...

उपर्युक्त गीत में स्त्री अपने पति से सावन में टहलने की उसकी जिज्ञासा और धर्म के प्रति विश्वास को अभिव्यक्त करता है।

देश की स्वतंत्रता और बलिदान का दिवस भी इसी सावन में आता है। कजली के गीत से यह अवसर वंचित कैसे रह सकता है। ऐसे में देश प्रेम और राष्ट्र के प्रति संदेश के आशय का गीत गाया जाने लगता है -

झूला-झूलि गये हैं कितने वीर मस्तानी में,
अपने वतन दिवानी में
झूला चढ़ा भगत सिंह बोला मेरा रंग दे बसंती चोला
झूला चढ़ा जलियाँबाग झूला-झूल गये आजाद
सीने अपने गोली मार लिए वे सानी में, अपने वतन दिवानी...
झूला चढ़ी लक्ष्मीबाई कितने दुश्मन किये सफाई
आया वीर शिवाजी आला जो था आजादी का मतवाला
खूब चलाई वरछी, ढाल, कृपाण रवानी में, अपने वतन...
धन्य है अब्दुल वीर हमीद देश के खातिर हुए शहीद
रामलोचन आज ईद मानावै रवानी में, अपने वतन...
झूला-झूलि गये हैं कितने वीर मस्तानी ...

इसी महीने में आल्हा-उदल की गाथा का गायन किया जाता है, तो वहीं दूसरी तरफ खेतों में रोपाई, सोहनी करती स्त्रियों द्वारा कजली के तर्ज पर ही विशेष प्रकार के विरह, संवेदना, भावाभिव्यक्ति, सुख-दुख, मनोरंजन, सम्बन्धी गीत उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं, जो बरसात के मौसम को गुंजायमान करते हैं। सावन को विभिन्न प्रकार के लक्षणों के आधार पर भविष्यवाणी करने वाले घाघ-भड्डरी ने अपनी कहावत के माध्यम से इसे सुखकर और लाभदायक बताते हुए कहा है -

सावण पहली पंचमी, झीनी छाँट पड़ै।
डेंक कहै हे भड्डली, सफलाँ रूख फलै।।

इस प्रकार से हम यह देखते हैं कि आनंद, मस्ती, संवेदना, विरह, प्रेम, सौंदर्य, श्रृंगार, त्याग, वीरता का हरा-भरा महीना 'सर्वेभवन्तु सुखिना, सर्वेशन्तु निरामयाः' जैसे आर्ष वाक्य की अनुभूति इन गीतों में दिखाई देती है।

सरगुजा के गोदने

राम कुमार शर्मा

भारत का सांस्कृतिक इतिहास अत्यन्त गौरवशाली है। इसके विविध रूपों का प्रदर्शन विभिन्न अवसरों पर सहज रूप से दिखाई पड़ता है। तीज, त्योहार, पर्व, उत्सव, विवाह, जन्मोत्सव व अन्य मांगलिक कार्यों पर तो पूरी संस्कृति ही उभर आती है। सजना-संवरना और श्रृंगार करना भी इसी संस्कृति का एक रूप है। प्राचीन काल से ही जब मानव को धातुओं के गहने गढ़ने का ज्ञान नहीं था, तब वह केवल घास-फूस व पेड़ों की छाल और पत्तियों से अपना बनाव-श्रृंगार कर लेता था। फिर सिंधु घाटी, लोथल, हड़प्पा व अन्य प्राचीन संस्कृति-सभ्यता के अध्ययन से भी यह बात साफ हो गयी है कि उस जमाने के लोग गहने पहनना, श्रृंगार करना व रंगों का उपयोग करना प्रारंभ कर चुके थे।

इसी कड़ी में छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश डाला जाय तो यह बात स्पष्ट को जाती है कि यहाँ की संस्कृति काफी समृद्ध व गौरवशाली है। यहाँ के निवासियों में बनाव-श्रृंगार के साथ ही स्थायी रूप से अंग सज्जा करने की परम्परा रही है। इसके लिए वे 'गोदना' का उपयोग करते थे। यँ तो गोदना भारत के लगभग सभी प्रदेशों में अलग-अलग नामों से गोदा जाता है। इसके पीछे मान्यता यह है कि इसका श्रृंगार मृत्यु तक रहता है। साथ ही इसे कोई छीन नहीं सकता तथा मृत्यु के बाद भी वह आत्मा के साथ जाता है। इस तरह 'गोदना' की समृद्धशाली परम्परा छत्तीसगढ़ में है। यह न केवल अंगालेखन अपितु ग्रामीणजनों का सहज श्रृंगार है। इसे वे कम पैसों व अनाज देकर गुदवा लेती हैं। फिर वे किसी तरह के गहनों की कमी महसूस नहीं करती। हँसी-खुशी के साथ जीवन बिताती हैं।

छत्तीसगढ़ के अन्य जिलों के साथ सरगुजा में 'गोदना' का विशेष चलन है। यहाँ प्रचलित नमूनों की आकृति, रेखांकन अंगों के अनुसार गोदना के कारण इसे सरगुजिया गोदना कहा जाता है। पारखी नज़र से देखने पर सरगुजिया गोदना के नमूने अन्य स्थलों के गोदना से काफी भिन्न होता है। यहाँ की प्रमुख व वरिष्ठ गोदना कलाकार श्रीमती सफियानो पावले ने तो गाँव की 40-50 महिलाओं को गोदना चित्रकारी में कुशल बना दिया है। आज के समय में जब महिलाएँ प्रचलित गोदना से मुँह मोड़ती जा रही हैं, तब यह कलाकार अपनी कला विरासत को समृद्ध करने के लिए प्राण-प्रण से जुटी हैं। 'गोदना' के नमूनों की चित्रकारी कपड़ों, साड़ी, गमछा, सलवार सूट आदि में करके इस 'कला-विरासत' को समृद्ध करने की कोशिश जारी है। श्रीमती सफियानो की प्रमुख शिष्या श्रीमती बिलासो पावले ने बताया कि वे रोज नए नमूनों का चित्रांकन करती हैं तथा भूले-बिसरे नमूनों को बड़ी-बुढ़ियों के शरीर से देखकर पुनः कागज पर उतारती जा रही हैं, ताकि समय रहते इनका संकलन किया जा सके।

सरगुजा में बाँस शिल्प और मिट्टी शिल्प पर चित्रकारी के साथ ही 'गोदना' प्रमुख कला के रूप में प्रचलित है। इस क्षेत्र की गोदना कलाकार प्रकृति से जुड़ी फूल-पत्तियों, फलों, सब्जियों, जीव-जन्तुओं की आकृतियों में गोदना गोदती हैं। यहाँ करेलाचानी, जठ, शंकरजटा, कोहड़ा फूल, लोंग फूल, पोथी, हाथी गोदना, बिछिया, भौरा, मछरी कांटा, धंधा, फूलवारी, कलसा, हरदी, गाँव, संकरी आदि का रेखांकन व अंकन शरीर के विभिन्न अंगों पर करती हैं। इस तरह सरगुजा जिले की कलाओं में गोदना एक प्रमुख कला है। खास बात यह भी है कि ग्राम जमगाला, लखनपुर, सरगुजा की सफियानो बाई व उसके समूह की महिलाएँ इस कला-विरासत को बढ़ाने प्रचार-प्रसार करने व संरक्षण देने के प्रति काफी सजग हैं। वे इसे चित्रपटों, चित्रकारी के रूप में

स्कूली बच्चों, ग्राम के युवक-युवतियों को इसका प्रशिक्षण देकर बड़े पैमाने पर संरक्षण का उपाय कर रहे हैं।

बिलासो के अनुसार गोदना गोदने के लिए रंग के रूप में मिट्टी तेल, सरसों तेल का दीपक जलाकर उसका काजल तैयार करते हैं, फिर इसे तेल में घोलकर सूजी द्वारा गोद-गोद कर शरीर के विभिन्न अंगों पर उम्र का ध्यान रखकर गोदते हैं, ताकि उसे गोदने का दर्द सहन हो सके। एक साथ बहुत ज्यादा अंगों पर गोदना नहीं गोदते। गोदने के पूर्व संबंधित बालिका व महिला को नमूने दिखाए जाते हैं। साथ ही कुछ अंगों पर जैसे पैरों पर धंधा फूलवारी-हरदी गाँट, गले पर शंखचूरी, बाहों पर पोथी, पैरों की अंगूठी पर बिछिया आदि को गोदा जाता है। गोदने का दर्द कभी-कभी असहनीय होता है। महिलाएँ बताती हैं कि इस दौरान अंगों पर जलन व भारी दर्द होता है। पर जीवन भर का श्रृंगार कराते समय ऐसे सारे दर्दों को वे चुपचाप सह जाती हैं। गोदने वाली कभी बेदर्द नहीं होती, पर वह अपने कार्य को सही ढंग से करने को तत्पर रहने के कारण दूसरों को थोड़ा कष्ट देकर भी कला संस्कृति को बखूबी हस्तांतरित करती है। पर उसमें मानवता का गुण विद्यमान रहता है। इतनी पीड़ा सहने के बाद भी परिवार के लोग खुशी-खुशी गोदकारीनों को रूपिया-पैसा व अनाज का दान करती हैं।

आज के लोग भले ही कुछ समझें पर 'गोदना' हमारी संस्कृति का अनोखा आयाम है। इसे किसी कारण से नकारना, भूलाना, पिछड़ेपन का प्रतीक मानना अपनी संस्कृति के गौरव को कम करना होगा। ऐसा अवश्य हो सकता है कि इसे किसी दूसरी विधा के रूप में प्रदेश में समृद्ध किया जाए। ताकि वह विश्व के सामने प्रदेश की स्वच्छ छवि प्रस्तुत कर सके। इस दिशा में हम सभी को संवेदनशील होने की जरूरत है।

जनजातीय आभूषण

निरंजन महावर

आभूषणों का प्रचलन संपूर्ण मानव समाज में विद्यमान है जो किसी समाज में कम है एवं किसी में अधिक। भारतवर्ष एक विशाल देश है, जिसमें अनेक प्रकार की जलवायु, भौगोलिक स्थितियाँ तो मौजूद हैं ही, परन्तु इस देश की सभ्यता भी अत्यन्त प्राचीन है। यहाँ अनेक जातियाँ तथा जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनकी धार्मिक एवं सामाजिक आस्थाएँ और मान्यताएँ भी विविध रूपी हैं। इन सब कारणों से यहाँ विविध प्रकार के रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान तथा आचार-विचार एवं व्यवहारों का विकास हुआ है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से पूर्वांचल तक न केवल अनेक प्रकार के नाक-नक्श और रूप रंग वाले लोग यहाँ निवास करते हैं, वरन् उनके रहन-सहन, पहनावे और सज्जा आदि में भी बहुत अधिक वैभिन्न्य एवं विविधता देखने में आती है।

सम्पन्न एवं नागर समाज में परिधानों और आभूषणों का विकास जहाँ अत्यधिक खर्चीला एवं मूल्यवान धातुओं और रत्नों की जड़ाई के कलात्मक कौशल के साथ हुआ है। वहीं दूसरी ओर ग्रामीण कृषक समाज एवं जनजातियों ने अपने सीमित आर्थिक साधनों के द्वारा तथा प्रकृति प्रदत्त उपकरणों के प्रयोग से अपने श्रृंगार के आभूषणों का पर्याप्त विकास किया है। आदिवासियों के आभूषणों में वैभव के बजाय सुरुचि एवं सौंदर्यबोध कहीं अधिक परिलक्षित होता है। जनजातियों के आभूषण अपेक्षाकृत कहीं अधिक परंपराशील हैं, जिनमें अनेक प्राचीन अभिप्राय अभी भी सुरक्षित पाये जाते हैं, जबकि नागर आभूषणों में नवाचार और प्रयोग नित्य ही होते रहते हैं।

आभूषणों का आरंभिक उद्भव गोदने के समान ही जादू अथवा अभिचार के उद्देश्य से ही हुआ होगा, ऐसा प्रतीत होता है। गोदनों और आभूषणों दोनों का ही अध्ययन करने पर ऐसा भी प्रतीत होता है कि अभिचार हेतु कुछ अभिप्रायों का आरंभ गोदनों के रूप में आरंभ हुआ हो और कालान्तर में जब आभूषणों का प्रचलन हुआ तो उन्हीं अभिप्रायों को आभूषणों में निर्मित किया जाने लगा। ऐसे अनेक आभूषण न केवल जनजातियों में वरन् नागर जनों में आज भी प्रचलित हैं, जिनका आरंभ गोदना अभिप्रायों के रूप में आभूषणों के प्रचलन से काफी पहले हो चुका था। उल्लेख करना पर्याप्त होगा। सांकला, बाड़, आड़ या जंजीर प्रतिकूल अभिचार के प्रति सुरक्षा हेतु कवच के रूप में गोदना अभिप्राय के रूप में व्यापक रूप से अंकित किया जाता है। सांकल अथवा जंजीर का अभिप्राय सोने-चाँदी या अन्य धातु के आभूषण के रूप में संपूर्ण विश्व में प्रचलित है।

आभूषणों की उत्पत्ति से संबंधित अनेक मिथ कथाएँ लोक और विभिन्न आदिवासी समुदायों में विद्यमान हैं। बिंझवार और अगरिया जाति में आभूषणों की उत्पत्ति की कथा इस रूप में विद्यमान है -

सुरति दानव और जीतो दानव पड़ोसी थे। सुरति अपने बेटे का विवाह जीतो की बेटि से करना चाहता था। जीतो ने इसके लिये यह शर्त रखी कि जब तक वह बहुत सारे आभूषण लेकर नहीं आयेगा, तब तक वह अपनी लड़की का विवाह उसके बेटे के साथ नहीं करेगा। सुरति इस बात को सुनकर बहुत दुखी हुआ और इस विचार से जंगल में चला गया कि शायद वहाँ कहीं उसे आभूषण मिल जाएँ। उसे जंगल में ही भटकते हुए रात हो गई और वह एक सागौन के वृक्ष के नीचे सो गया। सपने में उसे एक सर्प ने प्रकट होकर कहा- 'डरो नहीं। मैं तुम्हें आभूषणों के लिये अपनी आँखें और नथनी के लिये अपनी जीभ दे दूँगा।' सुरति के जागने पर करायत सर्प ने उसे अपनी हड्डियाँ, आँखें और जीभ प्रदान कर दी। सुरति उन्हें लेकर बारह अगरिया भाइयों, तेरह तमेसुर भाइयों और चौदह लोहासुर भाइयों के पास कटक पर्वत पर चला गया। उनसे मिलकर उसने सर्प की हड्डियों से आभूषण बनाने को कहा। उन्होंने इसके बदले सुरति दानव से लोहे के भंडारों का पता बताने को कहा। तब उसने कहा कि वे पत्थरों का ढेर लगायें। सुरति दानव ने उन पर पेशाब किया और वे पत्थर

लोहा बन गये। अगरियों ने प्रसन्न होकर सर्प की हड्डियों के आभूषण बना दिये। सुरति ने उन्हें ले जाकर जीतो को दिया और अगले सप्ताह वह अपनी लड़की का विवाह सुरति के बेटे से करने के लिये राजी हो गया।

मिथ्स ऑफ मिडिल इंडिया- डॉ. वेरियर एल्विन, पृष्ठ- 122

आभूषणों की उत्पत्ति की एक कथा भारिया जाति में भी विद्यमान है, जो इस प्रकार है-

कोयलीगढ़ में सिघ नाम का एक देवार था। उसके गाँव की ही एक देवरनिन दुबुलचक थी। एक दिन वह देवरनिन के पास अपने लड़के के लिये उसकी लड़की के साथ विवाह का प्रस्ताव लेकर गया। दुबुलचक की लड़की ने कहा कि यदि वह सोने की तरकी विवाह में देगा तो ही वह उसके बेटे के साथ विवाह करेगी। देवार इस बात को सुनकर मंडिया की रोटी बांधकर स्वर्ण की खोज में जंगल की ओर चला गया। मधुवन में पहुँचने पर उसे बहुत जोर की प्यास लगी। वहाँ उसे एक तालाब दिखाई पड़ा और वह पानी पीने उस तालाब की ओर चला गया। उस तालाब में सोहागी नाम की एक दानव रहती थी। देवार पानी पीकर वहाँ बैठ गया और रोने लगा। उसका रुदन सुनकर उस दानव ने उससे उसके रोने का कारण पूछा। सोहागी ने उसे ढाँढस बंधाते हुए कहा- 'तुम पहले रोटी खा लो, फिर मैं तुम्हें बताऊँगी कि सोना कहाँ मिलेगा।'

सोहागी दानव ने तालाब में तीन बार डुबकी लगाई और वह तालाब के तल में से एक चमकदार पत्थर निकाल कर लाई जो किसी प्राणी के कलेजे के सदृश्य चमक रहा था। उसने वह पत्थर उस देवार को देकर कहा कि इसे किसी सुनार के पास ले जाओ, वह इससे आभूषण बना देगा। सुनार ने जब उस पत्थर को गर्म किया तो वह काला पड़ने लगा। सुनार की पत्नी अपने मासिक धर्म में थी। सुनार ने उसे बुलाया और तब उसने देखा कि स्वर्ण काला पड़ रहा है, तब उसने क्रोधित होकर अपने रक्तस्त्राव की कुछ बूंदें उस पत्थर पर छिड़क दीं। रक्त के स्पर्श से वह पत्थर तुरन्त ही स्वर्ण में परिवर्तित हो गया।

उसके पश्चात् सुनार ने उस स्वर्ण से आभूषण बनाकर उस देवार को दिये और उसके बेटे का विवाह दुबुलचक की बेटि से सानन्द सम्पन्न हो गया।

मिथ्स ऑफ मिडिल इंडिया- डॉ. वेरियर एल्विन, पृष्ठ- 119

इसी प्रकार से जनजातियों में मूल्यवान धातु सोने-चाँदी की उत्पत्ति की कथाओं के साथ-साथ ही बहुमूल्य पत्थरों (रत्नों)की उत्पत्ति से संबंधित मिथ कथाएँ विद्यमान हैं। पहाड़ी सांवरा की कथा में धातुओं और आभूषणों की उत्पत्ति की कथा इस रूप में मिलती है-

एक बार किट्टुंग शहद लेने हेतु जंगल में गये, जहाँ उन्हें मिलावा का एक वृक्ष दिखाई पड़ा। उन्होंने उसके कुछ फल ले जाकर अपनी पत्नी को दिये। उनकी पत्नी ने उन बीजों को सियाड़ी के रेशे में पिरोकर एक माला बनाकर पहन ली और बचे हुए कुछ फलों को रेशों में पिरोकर कलाई और पैरों में बांध लिया। किट्टुंग ने जब अपनी पत्नी को इस रूप में देखा तो उन्हें वह बहुत आकर्षक लगी। उन्होंने पत्नी से कहा कि यदि सभी स्त्रियाँ इस तरह से आभूषण धारण करने लगे तो वे कितनी सुन्दर लगने लगेंगी।

किट्टुंग ने गंगा नामक कसेर को बुलाया और उसे अपने साथ रेरीबारू पर्वत पर ले गये और वहाँ से काफी सोना- चाँदी और पीतल खोदकर उसे दिया और उसे इन धातुओं से आभूषण बनाना सिखाया। जब गंगा बहुत-से आभूषण बनाकर लाया तो किट्टुंग ने उन आभूषणों को सभी लोगों में बाँट दिये और सब लोग इन नये आभूषणों को धारण करके नृत्य करने लगे। सब लोग एक दूसरे के आभूषणों की प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार से आभूषण पहनने का प्रचलन संपूर्ण समाज में फैल गया।

आभूषणों का उद्भव

मानव सभ्यता के विकास के किस मुकाम पर आभूषणों का उद्भव हुआ, यह सभ्यता के विकास क्रम में देखना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। पेरलियोलिथिक युग अथवा पुरापाषाण युग जिसका काल निर्धारण विकासवादी वैज्ञानिक एक लाख वर्ष पूर्व से दस हजार वर्ष पूर्व करते हैं। उसी काल में पत्थर के धारदार शस्त्र, कला तथा आभूषणों को मानव द्वारा विकसित किया जाना स्वीकार किया जाता है। आज से लगभग बीस हजार वर्ष पूर्व के काल के ऐसे पत्थरों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं, जिनमें छेद किये हुये हैं। पत्थर के ये टुकड़े यद्यपि आकर्षक एवं सुडौल नहीं हैं, परन्तु इनका उपयोग अवश्य ही आभूषणों के रूप में होने लगा था। मध्य-प्राचीन पाषाण युग में मानव ने अपने प्रस्तर

औजारों में और अधिक विकास किया, जिसके कारण छीलने, तराशने आदि के कार्य में अधिक कुशलता का विकास संभव हुआ। इस काल में जिसका समय विकासवादी वैज्ञानिक गत दस हजार वर्ष से चार हजार वर्ष के बीच निर्धारित करते हैं। उस काल में पत्थर तथा हड्डियों को तराश कर आभूषण बनाये जाने लगे। कच्ची धातुओं का प्रयोग भी आभूषण बनाने हेतु इसी युग में होने लगा। हथियारों की मूठ पर दृश्य आदि बनाने हेतु हड्डियों तथा हाथी दाँत को तराश कर उन्हें आकार प्रदान करने का कार्य इसी युग में आरंभ हुआ।

ईसा से लगभग चार हजार वर्ष पूर्व के युग को विकासवादी वैज्ञानिक ताम्रयुग मानते हैं, जिसमें ताम्र धातु की खोज मिस्र में हुई और उसे गलाकर उससे न केवल अस्त्र-शस्त्रों के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ, वरन् आकर्षक एवं सुडौल आभूषण भी बनाये जाने लगे।

ताम्रयुग के पश्चात् आज से लगभग पाँच सहस्र वर्ष पूर्व तांबे और टिन धातुओं के मिश्रण से कांस्य धातु बनाने की विधि का विकास कर लिया था। मानव सभ्यता के विकास क्रम का यह काल कांस्य युग के नाम से जाना जाता है। कांस्य धातु के निर्माण की विधि का विकास भी सर्वप्रथम मिस्र में ही हुआ और फिर यह ज्ञान भारत तथा अन्य देशों में भी पहुँच गया। कांस्य के आविष्कार ने कला-कौशल के विकास में अभूतपूर्व योगदान किया। भारत में सिंधुघाटी सभ्यता का काल कांस्य युग के अन्तर्गत ही आता है, जिसमें पाई जाने वाली अनेक कलाकृतियों में कांस्य की बनी हुई नर्तकी की एक प्रसिद्ध कलाकृति भी है, जिसे गले-बाँह और कलाईयों में आभूषण पहने हुये दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त स्टीटाईट, चूना पत्थर तथा पकाई हुई मिट्टी की अनेक कलाकृतियाँ हैं, जिनमें अलंकरण एवं आभूषणों को दर्शाया गया है।

मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय में ईसा पूर्व की (शुंगकालीन) बहुत-सी मातृका मृण्य मूर्तियाँ सुरक्षित हैं, जिनमें आभूषणों का अलंकरण बहुत ही आकर्षक रूप में किया गया है। केश सजा के आभूषण, बाँह एवं कलाई के आभूषण, कटि प्रदेश के आभूषण तथा पैरों के आभूषण आदि विविध प्रकार के आभूषणों से अलंकृत ये मातृका मूर्तियाँ दर्शाती हैं कि उस काल तक स्वर्ण, रजत एवं

रत्न जड़ित आभूषणों का व्यापक प्रचलन भारत में हो चुका था।

मिस्र के पिरामिडों से प्राप्त ममियों, ताबूतों और मूर्तियों में स्वर्णधातु से निर्मित आभूषणों का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। रजत के रूप में प्रयुक्त धातु में भी स्वर्ण की मात्रा ही अधिक पाई गई है, जिसे विशेषज्ञों ने श्वेत स्वर्ण कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक रजत की खदानों का पता नहीं चला था या स्वर्ण की तुलना में रजत की उपलब्धता कम थी।

धातु के अतिरिक्त प्राचीन काल में काँच के मनकों और पकाई हुई मिट्टी की रंग-बिरंगी गुर्रियों का प्रयोग भी आभूषणों के निर्माण में होने लगा था। फिलॉट, क्वार्ट्ज, चेलसीडोनी, अगेट आदि पत्थरों को घिसकर तथा उनमें छेद करके माला की भाँति पहनने का प्रचलन भी नव पाषाणयुग में आरंभ हुआ था, उसमें आगे चलकर औजारों के विकास के फलस्वरूप और अधिक उन्नति हुई। शंख-सीपी आदि का प्रयोग भी आभूषणों में पुरातन समय से ही आरंभ हो गया था। विश्व की अनेक जनजातियों सहित भारतीय जनजातियों के आभूषणों में मूल्यवान धातुओं के अतिरिक्त कांस्य, पीतल, कसकूट, तांबा आदि धातुओं से निर्मित आभूषणों का प्रचलन तो विद्यमान है ही, परन्तु इनके अतिरिक्त हड्डी, सींग, काँच के मणियों, चीनी मिट्टी की गुर्रियाँ तथा काष्ठ, शीप, शंख आदि से निर्मित आभूषणों का प्रचलन भी व्यापक रूप से विद्यमान है।

मध्यप्रदेश की जनजातियों के आभूषण

अब हम मध्यप्रदेश की कुछ विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण जनजातियों के आभूषणों का यहाँ अध्ययन करेंगे। मध्यप्रदेश की ही नहीं वरन् संपूर्ण भारत की सबसे बड़ी जनजाति गोंड है। गोंड जनजाति विकास के अनेक स्तरों पर एक साथ पाई जाती है। भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र में मिर्जापुर से लेकर गोदावरी नदी तक और पश्चिम में बेनगंगा या पेनगंगा से लेकर उड़ीसा के संबलपुर तक विशाल भू-भाग में यह जनजाति फैली हुई है। मध्ययुग में इस संपूर्ण क्षेत्र को गोंडवाना कहा जाता था और इस क्षेत्र में अनेक छोटे-छोटे गोंड रजवाड़े एवं जमींदारियाँ स्थापित हो गई थीं। नृतत्वशास्त्री एवं भाषा वैज्ञानिक यह मानते हैं कि इस संपूर्ण क्षेत्र में गोंडों का आगमन बहुत बाद में हुआ होगा। मूलरूप से इस भू-भाग में आस्ट्रोलाइड समूह की हो, मुंडा, कोरकू, बैगा, कोरबा,

कोल आदि जातियाँ निवास करती थीं। वर्तमान में भी ये जातियाँ इस क्षेत्र में निवास करती हैं, परन्तु गोंडों के आगमन और दबाव के कारण इन जनजातियों ने सघन वन्य अथवा दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में पलायन कर लिया और दुर्गम क्षेत्रों में जाकर बस गये। गोंड जनजाति की कृषि पद्धति इन जनजातियों से अधिक विकसित होने के कारण गोंड इस क्षेत्र का समृद्ध कृषक समूह बन गया। कालान्तर में इन्हीं लोगों में से कुछ अधिक शक्तिशाली लोगों ने अपने राज्य स्थापित कर लिये।

एक ओर तो गोंड इस क्षेत्र के शासक थे और प्रगतिशील कृषक थे, परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे भी क्षेत्र इस विशाल भू-भाग में मौजूद थे, जहाँ के गोंड थोड़ी बहुत बेवर खेती करके और कंदमूल फल एकत्र करके तथा आखेट आदि करके जीवन यापन करते। वर्तमान समय में भी बस्तर के कुछ क्षेत्र में महाराष्ट्र के अहेटी और भामरागढ़ क्षेत्र में, आन्ध्र के आदिलाबाद में तथा सतपुड़ा पर्वतमाला में अनेक स्थानों पर गोंड जनजाति आंशिक रूप से कृषि पर और आरंभिक रूप से वनोपज एवं आखेट पर आश्रित हैं। विकास के इतने विविध सोपानों में स्थित होने के कारण गोंड जनजाति की आर्थिक स्थिति में भी बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है और इसी के फलस्वरूप उनका रहन-सहन एवं जीवन स्तर भी अलग-अलग मिलता है। इन सब कारणों से उनकी भौतिक संस्कृति (मटेरियल कल्चर) में भी वैभिन्न्य एवं विविधता देखने को मिलती है।

गोंडवानी नामक गोंड जनजाति की गाथा में राजा हिरदेशाह के नगर एवं महल का वर्णन जिस प्रकार से किया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका राज्य समृद्ध रहा होगा—

*हरो ११ सोत्रे का महला। चांदी के खम्बा। मोती के झालर।
रेशम के परदा। सोने का कलसा। लग गैन्हें भैया। बावन बजारा।
बन गैन्हें दादा। कुआँ बावली। ताल तलैया। खुद गैन्हें भैया। बाग
बगीचा। फूल फुलवारी। लग गैन्हें भैया। पँवर दुआरा। बैठक
कचहरी। बन गैसी दादा। ऐसे सुन्दर नगर। बस गैसी हो। हो ११
हिरदेनगर बस गैसी!।*

अब नेगी भगवतराम बोले हैं— राजा अब अकास दिया वार देतन ते अच्छा रहे।

*हिरदेशाह अकास दिया बनवाय रहे हैं।
हो ११ राज राज के कारीगर बुलाये गैन्हें।*

देश-देश के मिस्त्री बुलाये गैन्हें।
 बारा सौ कारीगर तेरा सौ मिस्त्र।
 सोला सौ सुनार चौदा सौ लुहार।
 नौ लाख मजदूर लगे हैंव भैया।
 बारा बरस मा आकासदीप बने हैं रे भाई।

अब देख-देख राजा हिरदेशाह खुशी भैं रहे हैं होऽऽ उपरोक्त वर्णन हिरदेशाह की राजधानी का है, जिसे एक परधान भाट द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इस वर्णन में बहुत अधिक अतिशयोक्ति होना स्वाभाविक है, परन्तु फिर भी इस गाथा से उस काल विशेष एवं उस राज्य की समृद्धि का आभास तो स्पष्ट रूप से मिलता ही है।

गोंडवानी/ संग्रहकर्ता- श्री शेखगुलाब, संपादक - डॉ. ठा. भा. नायक, पृष्ठ- 91

गोंडवानी में ही हीराखान क्षत्री में सुकोसी के श्रृंगार का वर्णन किया गया है, जिसमें स्त्रियों के वस्त्रों और आभूषणों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है-

कैसे करे है सिंगार हो।
 कमलहीरो भैया रे।
 पोर-पोर मा गहना रे
 पहेरे हैं दादा।
 गिलार-गुलार चुटका।
 सौँत ढिगाई बहुँटा।
 झकमकान चुरा।
 और वजनियाँ पैरी।
 मेघराज माला।
 कंचन के चूरी।
 सोने के टिकुली।
 चांदी के ढारें।
 नाक के नकबेसर।
 नजर में शनीचर।
 माथे मा बिंदिया।
 कान मा बरकुल।
 छिंगुरी मा मुंदरी।
 पाँवों मा टोड़र।
 कैसे करे हैं सिंगार हो।

होऽऽ अब निकारे है कपड़ा सुकोसी ले।
 बाँस पोर में झीने कपड़ा कैसे संगोये रहें।
 होऽऽ कपड़ा के नाम लाल कलोरी।
 आधे सरग में देय अंजोरी।
 चोली के नाम चारम चीरा।
 चारों खूँट में बरें हीरा
 फरिया के नाम घन मछियावर।
 पानी के बूँद जाँय न बाहर।
 ऐसे कपड़ पहेरे हवै कमल हीरो रे भाई होऽऽ।

होऽऽ कैसे सिंगार करे हैं? छाती में चोली, बाँहों में बहुँटा। पीठ में गजरा! जूड़ा में झोंपा! आंगी साँही कपड़ा दगदगाँथै शरीर मा भाईऽऽ। गोंडवानी के बैहामारी प्रसंग में दूल्हे की वेश-भूषा एवं आभूषणों का वर्णन किया गया है। अक्सर आभूषणों का वर्णन करते समय केवल स्त्रियों के आभूषणों का ही वर्णन किया जाता है और पुरुषों के आभूषणों का उल्लेख तो नाममात्र के लिये औपचारिकता पूरी करने के रूप में होता है।

अब सज गै है बरात रे दादा
 कैसे दूल्हा ला सजाये हवें भाई
 तरे हवै चिड्डी, ऊपर हवै धोती
 तेखर ऊपर झंगा हरके रंग के
 कम्मर मा अंगोछा बांधे है भैया
 मूँड़ मा पागा, पागा के ऊपर मौर
 मोती के झालर झूल रहे हैं दादा
 मोती चूर के कलंगी
 कानन मा लुरकी
 गरे मा हमेला पहेरे हैं लरका
 पाँवन मा जूता चले हवें दुलहा
 कैसे घोड़ा मा असवार भये हैं होऽऽ

स्त्रियों की सजा वेश-भूषा और आभूषणों का ही एक अन्य स्थान पर गोंडवानी में इस प्रकार वर्णन मिलता है-

पाँव मा पैरी, हाथ मा चूरा, कम्मर मा करडोरा
 गरे मा हमेल, माथे मा बिंदिया, कान मा तरकुल
 चींकन अस मांग निकारे है दादा
 कसके जूरा बांधे हैं झोंपा खोंसे हैं जूरा मा

आँखी मा काजर नैन मटुकली रे भैया
 कैसे करे है सिंगार रे रामा टूरी
 कैसे बारा थान के लहंगा ऐंचातानी अंगिया रे भाई
 कैसे चीरम चीरा फरिया ओढ़े है टूरी

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में सर आर. जेन्किन्स ने गोंडों का वर्णन नग्न एवं वन्य प्रदेश में रहने वाले असभ्यजनों के रूप में किया था, जो कंदमूल और आखेट पर आश्रित थे।

बस्तर के अधिकांश क्षेत्र में सन् 1950 तक पुरुष वस्त्रों के रूप में एक पटका और एक पगड़ी तथा कभी-कभी बदन पर हाट-बाजार से खरीदी हुई काले रंग की बास्केट और स्त्रियाँ केवल एक साड़ी ही पहनती थी, जिसे वे घुटनों के ऊपर तक लपेटकर एक पल्ले से वक्षस्थल को ढँक कर पीछे की ओर कमर में खोस लेती थी। वर्तमान समय में शहर के समीप और सड़क के किनारे बसे हुये गाँवों में पोलका पहनने का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। अधिकांश गाँव साप्ताहिक हाट-बाजारों से जुड़ गये हैं और उनके माध्यम से आदिवासियों को काँच की चूड़ियाँ, काँच के मणिये, सोने-चाँदी के आभूषण तथा कांसे-पीतल एवं नकली चाँदी के आभूषण उपलब्ध हो जाते हैं। कांसे और पीतल के परंपरागत आभूषण घड़वा जाति के लोग भी बनाते हैं। इनके द्वारा बनाये जाने वाले परंपरागत आभूषणों की पहले बहुत मांग थी, परंतु अब धीरे-धीरे इन आभूषणों की मांग घटती जा रही है और कांसे-पीतल के आभूषणों का स्थान चाँदी के आभूषण लेते जा रहे हैं। पीतल का सूता, पीतल का चूड़ा, कांसे की पयरी आदि आभूषण अब चलन से बाहर हो चुके हैं और वे अब संग्रहालयों की वस्तु बनते जा रहे हैं। इसी प्रकार से काष्ठ और पीतल-कांसे की कलात्मक कंधियों का स्थान भी रबर और प्लास्टिक की कंधियों ने ले लिया है।

बस्तर में भतरा स्त्रियाँ दोनों नाक में कीकर के फूल के अभिप्राय की नकफुल्ली पहनती हैं जो बहुधा सोने की होती है। जो लोग सोने की नकफुल्ली नहीं बनवा पाते, वे वैसी ही पीतल की नकफुल्ली पहन लेते हैं। बस्तर में सबसे बारीक काम वाले स्वर्णाभूषण शुंडिने धारण करती हैं। ये आभूषण अत्यन्त कलात्मक होते हैं जो शुंडिनों के बदन पर बहुत शोभायमान लगते हैं। शुंडी जाति मदिरा बनाने एवं बेचने वाली एक प्राचीन जाति है, जिसका

संस्कृत ग्रन्थों में 'शौंडिक' के रूप में उल्लेख मिलता है। पुरुषों का कार्य मदिरा बनाना है तथा स्त्रियों का कार्य थड़े पर बैठकर मदिरा विक्रय करना। इसीलिये शुंडी पुरुषों की अपेक्षा उनकी स्त्रियाँ अधिक बनठनकर प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रदर्शित करती हैं। इस जाति के पास सैकड़ों वर्षों का संचित धन स्वर्ण आभूषण के रूप में दिखाई पड़ता है। संपन्न भतरा तथा महारा स्त्रियाँ शुंडिनों के आभूषणों की शैली का ही अनुकरण करते हैं।

दंडामी माड़िया तथा मुरिया स्त्रियाँ गले में चाँदी का सूता (हंसली) धारण करती हैं जो सर्प के अभिप्राय में बनी होती है और जिसके दोनों सिरों आपस में फंस जाते हैं। यह आभूषण ठोस चाँदी के छड़ से बनता है, जिसके किनारों पर चाँदी के ही तार लपेटे जाते हैं। गले में पहना जाने वाला दूसरा आभूषण हमेल या पुतरी कहलाता है, जिसमें मुगलकालीन सिक्कों के ठप्पों वाले नकली सिक्के होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में धातु शुद्धता के कारण मुगल कालीन सिक्कों को धागों में पिरोकर उनकी माला पहनने का प्रचलन आरंभ हुआ होगा। धीरे-धीरे उन सिक्कों का स्थान उनके ठप्पों से बने हुये सिक्कों ने ले लिया होगा। मुझे कुछ सुनारों के पास ऐसे कुछ पुराने सिक्कों की मालाएँ देखने की मिलीं, जो उन्हें आदिवासियों ने चाँदी के मोल बेच दीं थी। कुछ आदिवासियों के पास अभी भी रानी विक्टोरिया और पंचम जार्ज के चाँदी के सिक्कों की मालाएँ हैं। भारतीय समाज में आभूषण बचत का भी एक स्वरूप है, जिसे आड़े वक्त पर बेचकर काम चलाया जाता है।

मुरिया स्त्रियाँ कांच की बारीक पोत को ऊनी धागों में गूँथकर मालाएँ बनाती हैं, जिनके छोर पर हरे और गुलाबी रंग के फुंदरे बनाये जाते हैं। इन मालाओं को नेरकू कहते हैं, जिनमें सफेद, नीले तथा हरे रंग के पोत काम में लिये जाते हैं। ऐसी मालाएँ मस्तक पर एक से तीन लड़ तक की पहनी जाती हैं। पोत की मालाएँ घोटुल के चेलिक और मोटियारी दोनों ही पहनते हैं। चेलिकों द्वारा गले में पहनी जाने वाली माला चौड़ाई में अपेक्षाकृत अधिक चौड़ी होती है। मालाओं के लिये ऊन और पोत युवक खरीद कर मोटियारी को देते हैं, और नेरकू बनाने का कार्य वे करती हैं।

बांह में मुरिया और माड़िया स्त्रियाँ पहले ढलवाँ कांसे का

बांहटा पहनती थीं, परन्तु अब छत्तीसगढ़ी प्रभाव स्वरूप चाँदी की नाग मोहरी पहनने लगी हैं। नाग मोहरी चाँदी के दो ठोस तारों से बनाई जाती है, जो नाग और नागिन के युग्म का अभिप्राय है। आभूषणों में नाग का अभिप्राय विपरीत जादू-टोने से सुरक्षा कवच के रूप में किया जाता है और नाग-नागिन युग्म के अभिप्राय का प्रयोग प्रजनन एवं सुरक्षा कवच दोनों के रूप में। रंगीन पोतों से बनने वाला नेरकू का अभिप्राय भी सर्प का ही अभिप्राय है, जो सर्प की त्वचा पर बने हुये चिन्हों का कलात्मक रूपांतरण है।

कलाई में बस्तर की स्त्रियाँ कांटेदार बनौरा पहनती हैं, जो अंदर से खोखला होता है। यह आभूषण भी मंडला, छिंदवाड़ा, बालाघाट, रायपुर, बिलासपुर और बस्तर आदि सभी गोंड प्रधान क्षेत्रों में पाया जाता है। इसको बनाने हेतु चाँदी या नकली चाँदी का प्रयोग करते हैं। इनके साथ ही प्रत्येक कलाइयों में लाल और हरे रंग की पाँच से ग्यारह तक चूड़ियाँ पहनने का प्रचलन है।

बस्तर की आदिवासी स्त्रियाँ कान में खिनवा, ढरा या करेला फूल और बालियाँ पहनती हैं। खिनवा काष्ठ का या पीतल का आभूषण होता है। काष्ठ के आभूषण पर लाल या पीले रंग की लाख चढ़ाकर उसे पुष्प की कली का अभिप्राय प्रदान किया जाता है। ढरा-ढल का अभिप्राय है, जिससे संपूर्ण कान ढँक जाता है। करेला फूल और तरौई फूल स्वर्ण या पीतल धातु के बने होते हैं।

पैरों में कांसे की पयरी पहनने का प्रचलन अब लगभग समाप्त हो गया है, परन्तु पहले दोनों पैरों में डेढ़-डेढ़ किलो वजन की पयरी पहनी जाती थी। हाँ, मुरिया स्त्रियाँ अभी भी तीन कोर वाली कांसे का चूड़ा पैरों में पहनती हैं। ऐसा चूड़ा छत्तीसगढ़ और मण्डला तथा सरगुजा में भी प्रचलित है, जिसे गोंड, बैगा तथा राऊत आदि अनेक जाति की स्त्रियाँ धारण करती हैं।

मंडला की गोंड स्त्रियाँ सफेद और पीले रंग की पोत की मालाएँ बनाकर पहनती हैं, जिनके सिरों पर कौड़ियाँ गुंथी होती हैं। पीले रंग की पोत का प्रयोग सुहागन स्त्रियाँ ही करती हैं। अविवाहित अथवा विधवा स्त्रियाँ केवल सफेद पोत की मालाएँ पहनती हैं। पीला रंग हल्दी का रंग है, जो वैवाहिक जीवन का प्रतीक है। सफेद और पीली पोत से बनने वाले रूपाकार धामन सर्प के अभिप्राय माने जाते हैं। मंडला की गोंड स्त्रियाँ नाक और

कान छिदवाती हैं तथा उनमें आभूषण पहनती हैं। कानों में तो ऊपर से नीचे तक कई छिद्र करवाए जाते हैं, जिनमें बाली, तरकी, ढरा, खिनवा तथा कर्णफूल अथवा करेला फूल के अभिप्राय के आभूषण पहनने की प्रथा है।

स्त्रियाँ मस्तक पर चाँदी की एक झालर पहनती हैं, जो दोनों ओर कानों के ऊपर बालों में कुंदों के द्वारा अटकाई जाती हैं। नाक में लवंग फूल के अभिप्राय का आभूषण धारण किया जाता है। अंगुलियों में मुंदरी तथा पैर की दूसरी अंगुली में बिछिया पहना जाता है। बिछिया बिच्छू का अभिप्राय है, जो केवल विवाहित स्त्रियाँ ही धारण करती हैं, तथा यह अभिप्राय पुरुष के शिश्न का प्रतीक है, जो प्रजनन के उद्देश्य से धारण किया जाता है। कलाई में बनरा तथा कांच की चूड़ियाँ तथा कड़े पहनने का प्रचलन है। कमर पर कई-कई लड़ों की चाँदी की करधनी पहनती हैं? बांहों में बाहटा, नाग, मोहरी, पैरों में ऐंठी, पयरी, चूड़ा आदि आभूषण धारण किये जाते हैं।

मंडला, बालाघाट, राजनांदगाँव और बिलासपुर की बैगा जनजाति का गोंड जनजाति से घनिष्ठ संबंध है और वे हजारों वर्षों से साथ-साथ रहते आ रहे हैं। अतः बैगाओं पर गोंड जनजाति का बहुत अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। बैगा पुरुष वस्त्र के नाम पर नाम मात्र की एक लंगोटी पहनते हैं। बैगा लोग स्वयं वस्त्र बुनना नहीं जानते और वे पनका या महरा जाति के लोगों के बनाये हुए वस्त्र धारण करते हैं। एक मिथकथा के अनुसार नंगा बैगा को भगवान ने नौ हाथ लम्बा वस्त्र प्रदान किया था, परन्तु उन्होंने अपनी लंगोटी के लायक डेढ़ हाथ कपड़ा अपने पास रखकर शेष उन्हें वापस लौटा दिया था। स्त्रियाँ भी पाँच हाथ की गुलाबी या सफेद साड़ी पहनती हैं, जिसे पटका कहते हैं। बैगा पुरुष सिर पर एक वस्त्र बांधते हैं, जो फरिया कहलाता है। संपन्न बैगा बीस हाथ लम्बे वस्त्र का साफा बांधते हैं। बैगा आर्थिक दृष्टि से बहुत विपन्न हैं तथा अभी भी वे अधिकतर बेवर खेती एवं वनोपज तथा आखेट पर ही आश्रित हैं। उनकी गरीबी उनके आभूषणों एवं वेशभूषा में भी पूरी तरह दिखाई पड़ती है।

पुरुष आभूषणों के नाम पर दोनों हाथों की कलाइयों में लोहे, पीतल या चाँदी के कड़े पहनते हैं। अंगुली में चाँदी, पीतल या तांबे की मुंदरी (अंगूठी) पहनते हैं। कानों में वे अनेक छिद्र

करवाकर ऊपरी भाग में बारी या बाली पहनते हैं, बीच के छिद्र में बाला और नीचे के भाग में लुरकी पहनते हैं। लुरकी सोने या चाँदी की बनी होती है तथा शेष आभूषण कांच के सफेद मणियों के होते हैं, जिन्हें तांबे के तार में पिरोकर बनाया जाता है।

बैगा स्त्रियों में नाक छिदवाना वर्जित है और इसीलिये उनके बीच नाक का कोई भी आभूषण प्रचलित नहीं है। बैगा-भूमिया स्त्रियाँ भी कानों में तरकी, ढार और खिनवा नामक आभूषण धारण करती हैं। मस्तक पर गोंड स्त्रियों के सदृश्य ही बिंदिया नामक चाँदी का आभूषण पहनती हैं, जिसे वे मंगचिरनी कहती हैं। गले में चाँदी का सूता, ठप्पे वाले सिक्कों की माला जिसे हवेल कहते हैं, पहनने का प्रचलन है। गले के सबसे सुन्दर आभूषण उनके द्वारा निर्मित काँच की पोत और मणियों की मालाएँ हैं, जो छूता, कंठी, लटकनिया और गुरिया बिचुली नाम से जानी जाती हैं। इन आभूषणों को बनाने में अत्यधिक आकर्षक एवं रंग-बिरंगे कांच के मणियों का उपयोग किया जाता है। लाल, नीले, काले और पीले रंग के काँच की मणिएँ उन्हें सर्वाधिक प्रिय हैं। ये सभी कंठहार भिन्न-भिन्न प्रजाति के सर्पों के अभिप्राय हैं, जिनका उद्भव सुरक्षा कवच के जादुई उद्देश्य से हुआ होगा। बैगा स्त्रियाँ अंगुलियों में मुंदरी और कलाइयों में बनौरा और कांच की चूड़ियाँ तथा पैरों में तीन कोर का कांसे का चूड़ा पहनती हैं। बैगा स्त्रियाँ नृत्य करते समय बजनी पयरी और मोर पंख तथा खजूर के पत्तों की बनी हुई कलगी तथा घास के छल्लों की बनी हुई लटकने जूड़े में बांधती हैं। युवक भी मोर के पंखों की कलगी बनाते हैं, जिनके सिरों पर फुंदरे लगे होते हैं, जो नृत्य करते समय कलात्मक रूप से लहराते हैं।

अनेक ददरिया, करमा, सुआ गीतों में लोकाभूषणों का सुन्दर वर्णन मिलता है। छत्तीसगढ़ी, हल्बी, भतरी, गोंडी एवं सदरी भाषाओं की पहेलियों और लोकोक्तियों में भी आभूषणों का वर्णन मिलता है। देवी के गीतों में और गौरा गीतों में देवी के श्रृंगार के वर्णन में भी अनेक आभूषणों का वर्णन मिलता है। देवी के एक गीत में आभूषणों का सुन्दर वर्णन इस प्रकार मिलता है—

*मैया पचरंग-पचरंग सजे हवय सिंगार हो माय
संत सेत ककनी बनुरिया
सेत पट्टा तुम्हार हो माय।*

*सेते होतो गरे के सुतिया
गज मुंगन के हार हो माय।
लाली लाल लहर के लहंगा
एड़ी महाउर लाले हो माय।
खात पान मुख लाल भवानी
मूंड के सेंदुर लाले हो माय।
कारी कोर लगे चोलियन
कारी काजर के रेख हो माय।
कारी हे तोर भंवर पालकी
कारी मूंड के केस हो माय
पियरी हे तोर नाके के नथनी
हरे-हरे तोर हाथ चुरी माय
हरे गले के पोत, हरे हवय तोर माथे के टिकुली
बरत सूरज के जोत
सोलह सिंगार सजे जग तारन
देखब में जग मोहे हो जाय
बालक बरुआ कछु नहिं जानन
केवल सरन तोरेच हो माय।*

गौरा गीतों में भी माता के वर्णन में उनके श्रृंगार के आभूषणों का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। इसी प्रकार से बस्तर के जगार गीतों में लक्ष्मीजी तथा अन्य देवी-देवताओं के गीतों में भी अनेक आभूषणों का वर्णन मिलता है।

करमा नृत्य छत्तीसगढ़, मंडला तथा सरगुजा की अनेक जनजातियों में प्रचलित है। करमा पर्व एक अनुष्ठानिक पर्व है, जिसमें करमसेन देवता को अच्छी फसल की कामना से जागृत करके उन्हें प्रसन्न करने हेतु करमा नृत्य करते हैं और करमा गीत गाते हैं। करमा की व्यापकता के साथ-साथ करमा गीतों में विविध विषयों का समावेश हो गया है। करमा के श्रृंगारिक गीत भी कामोत्तेजना को जागृत करके प्रजनन के उद्देश्य की पूर्ति हेतु रचे गये हैं। यहाँ एक करमा गीत प्रस्तुत है, जिसमें स्त्रियों के अनेक आभूषणों का वर्णन किया गया है। यह गीत डॉ. दयाशंकर शुक्ल की पुस्तक 'छत्तीसगढ़ लोक साहित्य का अध्ययन' में डंडागीत के रूप में संकलित है। चूंकि दोनों ही प्रकार के गीत नृत्य गीत हैं, इसलिये भ्रमवश ऐसा हुआ होगा। इस गीत की धुन मूलरूप से करमा की ही है।

हाँ-हाँ भाई चन्दा छिप रहिबे कारी बादर में ॥
 कहवाँ उनोबे तोरे कारी बढुरिया
 कहवाँ उनोबे तोरे मेघ ।
 सरगो उनोबे तोरे कारी बढुरिया
 भूवन में बरसे मेघ ॥ भाई चंदा...
 गोड़ेच में तोरे चुटकी बिराजे
 चुटकी में बरसे मेघ ।
 कनिहां में तोरे करधन बिराजे
 कनिहां में बरसे नीर ॥ भाई चंदा...
 घुठवा में तोरे चूड़ा बिराजे
 चूड़ा में बरसे मेघ ।
 कोथा में तोर लहंगा बिराजे
 लहंगा में पड़िगे नीर ॥ भाई चंदा...
 छातिया में तोर चोलिया बिराजे
 चोलिया में पड़िगे नीर ।
 गला में तोर सुरा बिराजे
 सुरा में पड़िगे बूंद ॥ भाई चंदा...
 कान में तोर खिनवा बिराजे
 खिनवा में पड़िगे बूंद ।
 माथ में तोर टिकुली बिराजे
 टिकुली में पड़िगे बूंद ॥ भाई चंदा....

आभूषणों से संबंधित पहेलियों में आदिवासी और ग्रामीणजनों की कल्पनाशीलता का पता चलता है। ऐसी अनेक पहेलियाँ इस क्षेत्र में प्रचलित हैं। ये पहेलियाँ आदिवासियों और गैर आदिवासियों दोनों ही समुदायों के बीच समानरूप से प्रचलित हैं। यहाँ ऐसी ही कुछ पहेलियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं-

- (1) अंजन रूख बिरंजन रिई
 हालाथे रूख व बोलथे चिरई । - पयरी ।
- (2) सांप कस मेंडरी
 दूध कस फेन जान मोर हाना ।
 नइ तो चल मोर देस । - सूता या हंसुली ।

- (3) कुकरी के मूंडी अंदौरी बरी
 तोर चटके मोर हालथे । - कान की बाली ।
- (4) एक पैसा ल लेनी देनी ।
 पीछू कोती फेंक देनी । - फुंदरा ।
- (5) घन कोरी बिकट बंधना
 जे नइ जाने तो चाबे गहना । - ककई या कंघी ।
- (6) भाई के हर हालथे
 भौजी के हर चटके हे । - लुटकी और खिनवा ।

आभूषणों का ददरिया गीतों में वर्णन भी यहाँ दृष्टव्य है-

- (1) सोने के सूता मंडल जोड़ा
 तोर पाँव में खुले हे चाँदी के तोड़ा ।
- (2) बांह में पहुँची पहिने सुन्दरी
 कान ढरकौआ अंगुर मुंदरी ।
- (3) पहिरे ला गहना देखेला दरपन
 तोला खुल के बिराजै चाँदी के करधन ।
- (4) दांत बतीसी नयन कजरा
 पाँव मां घुंघरू गरा मां गजरा ।

इस आलेख के प्रारंभ में मैंने गोदना और आभूषणों के उद्भव के मूल में एक ही आशय के होने का उल्लेख किया है। गोदना का आरंभ आभूषणों से पहले हुआ और कालान्तर में उन्हीं अभिप्रायों ने आभूषणों का रूप ग्रहण कर लिया। यहाँ गोदना से संबंधित एक देवार गीत में इन दोनों कलारूपों के अन्तरसंबंधों पर प्रकाश पड़ता है।

का गोदना ला गोदंव वो का गोदना ला गोदंव ।
 मोर दुलौरिन बेटी वो का गोदना ला गोदंव ॥
 नाक गोदाले नाक मां फुल्ली माथ गोदाले बिंदिया ।
 बांह गोदाले बांह बहुटिया हाथ गोदाले ककनी ॥
 मांग ऊपर छै बुंदिया गोदाले पांव गोदाले बिछिया ।
 हिरदे में तोर राम गोदाले दाग लगाले चोका ॥

निमाड़ का लोक संगीत

अरुण सातले

निमाड़ का लोक साहित्य हमारे पूर्वजों के ज्ञान की, उनके संज्ञान की अमूल्य धरोहर है। लोक साहित्य-लोक की सामूहिकता और समूह की भावना का प्रतीक है। लोक संस्कार हमारे चित्त में बहुत गहरे धंसे रहते हैं, जो विशिष्ट अवसरों पर अभिव्यक्त होते हैं। जब भी हम लोक की बात करते हैं, तो हमारे दिलो-दिमाग में एक ही विचार उठता है, अपनी जड़ों की ओर जाना, अपने खुद की तलाश करना। यह बात पारंपरिक होते हुए भी नित-नवीन लगती है, और इसका मुख्य कारण है- उसकी सहजता, भावप्रवणता और लोकानुरंजन।

आनंद के भावों का सहचारी होना लोक की चेतना में निहित है। यही भावना उत्सवधर्मी रूप में अभिव्यक्त होती है। लोक का संस्कार इसलिए उत्सवधर्मी है। इस लोकोत्सव में मात्र मनुष्य ही नहीं, वरन् मनुष्येतर जगत की भागीदारी भी होती है। लोक में जन्म का उत्सव है तो मृत्यु भी उत्सव है, जहाँ निर्गुण भजन गाते हुए, गुलाल उड़ाते हुए अंतिम यात्रा कराई जाती है- 'जस की तस धर दीनी चदरिया' वाला भाव है। इसलिए लोक साहित्य और लोक संगीत में ईश्वर, प्रकृति और मनुष्य की छवि के दर्शन होते हैं, अर्थात्- सत्यं, शिवं, सुंदरम्।

निमाड़ के लोक जीवन में श्रम और ज्ञान से आनंदित होने वाले क्षणों की अभिव्यक्ति यहाँ के संगीत या कहें लोकगीतों में हुई है, तो विषाद-करुणाजनित संवेगों का स्थाई भाव भी अभिव्यक्त हुआ है, यहाँ के लोकगीतों में। निमाड़ का संत साहित्य, जिसमें गेय कथानक, भजन आदि आते हैं, ने निमाड़ी लोक जन की आध्यात्मिक भाव-भूमि को निर्गुण परम्परा से बांधे रखा है। इस कड़ी में निमाड़ के संत सिंगाजी प्रमुख हैं। निमाड़ी लोक जन आर्त-भाव से सिंगा महाराज की निर्गुण -धारा के पंथी हैं। ये भाव ही लोक समूह

के चेतना संपन्न होने की भाव-भूमि बन जाते हैं। भूमि अर्थात् भावों का स्थाई होना। निमाड़ का लोकगीत, संगीत मात्र कला नहीं है, बल्कि उसके माध्यम से यहाँ का लोकजन अपने सामाजिक- सांस्कृतिक सरोकारों को पूजा-भाव से व्यक्त करता है।

निमाड़ के लोक गीतों में, यहाँ की भौगोलिकता के साथ, श्रम मूलक कृषि संस्कृति, उनकी जीवनानुभूतियों का सत्व अपने प्राकृत स्वरूप में यहाँ के लोक गीतों में अभिव्यक्त हुआ है। यदि कहा जाय कि निमाड़ी साहित्य लोक कथाओं, लोकोक्तियों, पहेलियों, कहावतों और लोक गीतों की लयात्मकता से समृद्ध हुआ है, तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। सृष्टि का आदि संगीत 'ऊँ' है, और अपनी-अपनी धुरी पर एक लय में समूचा ब्रह्मांड नर्तन कर रहा है। इस लय का बोध, उसका संज्ञान निमाड़ के बाशिंदे को है। यहाँ मुझे एक बहुत ही मौजूं पहेली याद आ रही है- 'असो कसो पावणों मांय, घरमंऽसूतो-अंगणां पांय' इसका उत्तर है- दीया/ दीपक। इस पहेली के शब्दों में लयबद्धता तो है ही, साथ ही उजास की तरफ जाना, फैल जाना है। जैसे- घर में जलते हुए दीये का प्रकाश, आँगन तक जाकर फैल जाता है। यहाँ शेडो अर्थात् छाया वाली बात नहीं है, जैसे किसी पाश्चात्य कवि के सॉनेट के हिन्दी अनुवाद में मैंने पढ़ा था, लैम्पपोस्ट की छाया, सड़क पर खड़ी है। इस कविता में छाया है तो निमाड़ी पहेली में उजाला। ऐसी ही एक पहेली है, जिसमें लयबद्धता तो है ही, साथ ही निमाड़ की भौगोलिकता - 'बाकी-तेकी पावळई, बजावणऽ वालों कूठा, सुंदर चली सासरऽ मनावणऽ वाळो कूण' अर्थात् नदी। उबड़-खाबड़, ऊँची, नीची टेकरा-टेकरी, घाटी-पहाड़ आदि से निकलने वाली निमाड़ की नदी है, जो तीव्र गति से बहती है, अपनी राह कल-कल ध्वनि करते हुए बनाती है, और ससुराल तक चली जाती है। मैदानी नदी नहीं है, जो मंथर गति से बहती हो।

यहाँ की कहावतों, पहेलियों, लोकोक्तियों में संगीतिक लयबद्धता है, तो कोई भी लोकगीत चाहे वह जीवन-व्यवहार का हो, सोलह संस्कारों का हो, प्राकृत हो या ईश अराधन का हो, उसमें एक रिदम है, लयबद्धता है, जो प्राकृत लय से साम्य रखती है। यही सभ्यता जीवन की लय को साधती है, और निमाड़ के लोकगीतों की यह परम्परा बहुत समृद्ध है- गणेश वंदना की

पंक्तियाँ हैं- आओ म्हारा गणपति इना दरबार। इसके नोट्स कुछ इस तरह हैं-

सा ऽ ग रे ऽ सा	सा रे ग प	म ग् ऽ रे निऽऽसा
आ ओ म्हारा	गण पति	इना दरबार
म ऽ ग मे प म ग् रे	म ऽ ग	मं प मं ग् रे
राम दरबार हो	भोला	दरबार हो
सा ऽ ग रे सा	स रे ग प मगऽरे	निऽऽसा
आ ओ म्हारा	गणपति इना	दरबार

जीवन के सोलह संस्कारों की गूंज हमें निमाड़ के लोकगीतों में सुनाई देती है। जीवनगत् संव्यवहारों के साथ-साथ प्रकृति के गीत, घटी गीत, तीज-त्योहारों के गीत, देवी-देवताओं के गीत, लोरियाँ, सखी गीतों के अंतर्गत-संजाफूली, नरवत्, हाथीव्रत आदि भिन-भिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले गीत है, जो प्रायः समूह में गाये जाते हैं। अनुष्ठानिक पर्व 'गणगौर' तो लोकगीतों का, लोक-नृत्य का पर्व ही है, जिसमें पूरा निमाड़ झूम उठता है, गाने लगता है। थिरकने लगता है। भक्ति गीतों में सगुण और निर्गुण दोनों हैं। निर्गुण-पंथी संत/ कवि सिंगाजी के भजनों की छाप, अपनी विशिष्ट धुन और मिरदंग (मृदंग) की विशिष्ट रिदम के कारण जन-जन में व्याप्त है। वैसे भी लोकगीत रिदमिक होता है। रिदमिक होने के पीछे यह कारण है कि श्रम से थका हुआ शरीर एक विशिष्ट रिदम के साथ अपने को जुड़ा हुआ पाता है, और उसी लय में अपनी थकान तिरोहित कर देता है। भूल जाता है।

यहाँ के पारंपरिक लोक गीतों की गायन शैली में उनकी धुनों में विविधता भी है। हालांकि उनकी संगीत रचना, कम्पोजिशन का कोई शास्त्र-सम्मत विधान या व्याकरण नहीं है। लेकिन स्वर माधुर्य और लोकानुरंजन की दृष्टि से वे संपन्न हैं। उन्हें सुनकर लगता है कि- ये गीत लोक के अंतःस्फूर्त भावों का नैसर्गिक स्फुरण है। और फिर लोक से ही तो शास्त्र बनता है।

निमाड़ के वाद्ययंत्रों में प्रमुख -मृदंग, झांझ, मंजीरा, तम्बूरा (एकतारा) ढोलक, ढोल, थाली और ताली है। कुछ गायन-शैलियों में जैसे - कलगी-तुरा में डप का प्रयोग भी होता है, तो लोकनाट्य 'खम' में गरबी ग्वालिनी, हुडंगी में मृदंग- झांझ प्रमुख वाद्य हैं। आजकल हारमोनियम, ढोलक, तबला भी चलन में आ गए हैं। गणगौर के गीतों में ढोल, ढोलक और मुख्यतः तालियों से

लय को साधकर गाने की परम्परा है। यहाँ प्रयुक्त होने वाले ताल वाद्यों का बजना ऐसा है कि बस-लय टूटना नहीं चाहिए।

कुछ लोकगीतों के बोल, उनकी धुन अर्थात् संगीत पक्ष की तरफ मैं ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा- एक प्राकृतिक गीत है, जो अलसुबह गाया जाता है, जिसे कूकड़ा गीत कहते हैं। गीत है-

सूरीमल ऊंगियो
ऊंगियो ते बयड़ा केरी को र
सूरीमल ऊंगियों
ग म ऽ ग ग रे सा ऽ ग रे
सूरी मल ऊं गि यो
धं सा ऽ रे रे रे रे रे सा ऽ म ग
ऊंगियो ते बयड़ा केरी को र
ग म ऽ ग ग रे सा ऽ ग रे...
सूरी मल ऊंगियों

कुछ इसी तरह यह गीत आगे बढ़ता है। यह गीत मांगलिक अवसरों पर महिलाओं द्वारा सुबह-सुबह गाया जाता है। यहाँ सूर्य को सूरीमल कहकर उसका मानवीकरण हुआ है, तो सुर और असुर अर्थात् अंधेरे असुर के बाद सुर अर्थात् प्रकाश का उदय हुआ है। सूरज ऊर्जा का स्रोत है। जगत की उत्पत्ति का बीज रूप है। इसीलिए लोक ने उदियो न कहते हुए ऊंगियो कहा है। सूर्य यहाँ ईश्वर हो जाता है। द्वितीय पंक्ति निमाड़ की भौगोलिकता को बयां करती है, अर्थात् प्रकृति। इस गीत में आगे पंचतत्त्वों की पगड़ी मनुष्य को धारण करने का संदेश है, याने प्राकृतिक-साहचर्य का भाव जाग्रत करना, भोक्ता का नहीं, और मनुष्य होने का बोध कराने हेतु दान आदि देने का नीति वाक्य भी है। इस प्रकार इस कूकड़ा गीत में ईश्वर, प्रकृति और मनुष्य का समवेत गान है, जो नारी कंठ से फूटता है, सुबह होते ही। निमाड़ में एक बहुत ही सुंदर लोरी है -

हात रे भाई/ नाना की मांय/ पाणी खऽगई
नंऽ कुतरा मांजरा/ कोंडी गई।
कुतरा मांजरा नऽन् / कर यो उजऽऽ
नंऽनाना भाई ख ऽ पड़ी गया
धमका चार/ धमका चार

इसके नोट्स हैं -

ध रे ऽ सा ... सा ... सा...

सा ध सा सा	हात रे भाई ई
नाना की मांय	ध सा रे ग
ग रे ग रे सा सा रे सा	पाणी खऽगई
नंऽकुतरा मांजरा	ग ऽ रे सा ऽ
ध सा सा रे ऽ सा	कोंडी गई
कुतरा मांजरा नऽन्	ध सा रे ग ऽ
ग ऽ ऽ रे ऽ ग रे सा	करयो उजऽऽ
नंऽ नाना भाई खऽ	सा सा रे
ग ऽ रे ऽ सा	पड़ी गया
ध ऽ म का चार	ध रे सा ऽ
	ध ऽ म का चार

इस लोरी में माँ निमाड़ की है, जहाँ उसकी दिनचर्या श्रमिक की तरह होती है। उसके बच्चे को परियों की कपोल कल्पित बातों से वह कैसे सुला सकती है। निमाड़ की जमीनी हकीकत से रू-ब-रू कराती इस लोरी में माँ के अव्यक्त ममत्व भाव को, सुरों की हल्की सी गूँज के माध्यम से वह अपने शिशु में, ममत्व-भाव का संचार, अपने हृदयतंत्री की धड़कन के माध्यम से करा देती है, और बच्चा भी उस गूँज को महसूस करते हुए अपने आप सो जाता है। यहाँ हात रे भाई के साथ प्रथमतः सा मंद्रसप्तक का लगता है, पश्चात् मध्य और तत् सप्तक के सा की केवल अनुगूँज होती है, वह भी माँ के वक्ष स्थल से सटे हुए बच्चे के लिये। और बच्चा सो जाता है। माँ फिर अपनी दिनचर्या में मग्न हो जाती है।

अंत में गणगौर पर्व में गाया जाने वाला नृत्य गीत है, जिसे झालरियाँ भी कहते हैं। गीत के बोल हैं-

अना बना मं ऽ चम्पो मवर्यो
मवरई रे फूलवारी
धणियर राजा डाळ नवाड़ ऽ
रणुवाई फूलड़ा टोचऽ
टोचत-टोचत कांटो मुडयो
नयना दुई-दुई धा ऽ र ऽ

पान पटोळइ पाटो बांध्यो

व्यापसी सी सेकऽ

अना बना मंऽ चम्पो मवरयो/ मवरई रे फुलवारी

यह गीत भी समूह में गाया जाता है। इस गीत के गायन की यह विशेषता है कि गीत मध्यलय से प्रारंभ होकर द्रुत से द्रुततर लय में गाया जाता है। द्रुततर लय में एक स्थिति ऐसी बनती है कि केवल 'भ्रमर करत गूज गान' अर्थात् समवेत गान में केवल सुर गूजते हुए महसूस होते हैं, और मन मदमस्त होकर नर्तन करने लगता है।

इसके नोट कुछ ऐसे हैं-

रे रे मं धं

अना बना में

रे ऽ सा नि

मवर ई रे ऽ रे

प ऽ मं ऽ प ऽ

चम्पो मवरयो

सा ऽ ऽ पं

फूल वा री

ऋतु, विवाह के गीत, जन्म-मृत्यु-तीर्थ यात्रा, पर्व आदि के गीतों से निमाड़ी भाषा समृद्ध है। लोक संत सिंगाजी के भजनों की गायन शैली और मृदंग के बजाने का अंदाज एकदम निराला है। जिसमें ओजस्विता, स्फूर्ति और समर्पण भाव का संचरण, सतत मृदंग की गूज के सदृश्य गूजता रहता है। निमाड़ के गौरवशाली लोकगीतों की परम्परा को जीवित रखने का प्रयास करना, अपने संस्कारों के उत्स की तरफ देखना है।

